आनन्दघन

चौबीसी

विवेचनकार

मुनि सहजानन्दघन

सम्पादक

भँवरलाल नाहटा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत भारती पुष्प ५७

श्री आनन्दघन चौबीसी

[१७ स्तवनों का संक्षिप्त भावार्थ, अवशिष्ट स्तवन मूल]

विवेचनकार :

युगप्रधान श्री सहजानंदघनजी महाराज

सम्पादक :

मँवरलाल नाहटा

प्रकाशक :

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, हम्पी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक व प्राप्ति-स्थान

१. श्री घेवरचंद जैन, मंत्री
श्रीमद् राजचंद्र आश्रम
रत्नकूट, हम्पी-५८३२३९
पो० कमलापुरम्
रेलवे स्टेशन-हॉस्पेट
जिला बेल्लारी (कर्नाटक)

Shrimad Rajchandra Ashram
Ratna Koot, Hampi-583239
Rly. Station Hospet, Dist. Bellary (Karnataka)

२. देवेन्द्रराज मेहता, सचिव
प्राकृत भारती अकादमी
३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता
जयपुर-३०२००३ (राजस्थान)

३. भँवरलाल नाहटा
४, जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता-७००००७

प्रथम संस्करण—१९८९
मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक :
राज प्रोसेस प्रिन्टर्स
८ ब्रजदुलाल स्ट्रीट
कलकत्ता-७०००००६

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

परम अवधूत योगिराज आनन्दघनजी रचित चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन एवं पदों का न केवल जैन अपितु भारतीय समाज में आज तक एक विशिष्ट स्थान रहा है। मुमुक्षु एवं साधकों के हृदय को झंकृत करने वाले और आत्मानुभूति की ओर बढाने वाले होने से मानस को भक्ति रस से आप्लावित कर देते हैं। भेद-विज्ञान को प्रदर्शित करने वाले एवं परंपरावाद से मुक्त होने के कारण ये स्तवन प्रभु से तन्मयता और देह से अनासक्ति भाव भी बढ़ाने वाले हैं।

आनन्दघनजी के स्तवनों और पदों की भाषा को देखते हुए यह स्पष्टतः सिद्ध है कि ये राजस्थान प्रदेश के ही थे। परम्परागत श्रुति के अनुसार इनका आवास स्थान भक्तिमति मीरा की नगरी मेडता ही था। इनका काल अनुमानतः वि० १६५० से १७३१ के मध्य का है। इनका दीक्षा नाम लाभानन्द था अतः इनकी दीक्षा खरतरगच्छीय आचार्य जिनराजसूरि के कर-कमलों से ही हुई होगी। उनका स्वर्ग स्थान भी मेडता होने के कारण इनका चबूतरा और उपाश्रय भी मेडता में ही माना जाता रहा है। इनके चबूतरे को ही आधार मानकर आचार्य श्रीविजयकलापूर्णसूरिजी महाराज मेडता में ही आनन्दघनजी का मंदिर बनवा रहे हैं, जिसका निर्माण कार्य अभी चल रहा है। परम्परा-वाद के दुराग्रह ने ही इनको अवधूत होने के लिये बाधित किया था। इसी का परिणाम था कि वे लाभानन्द न रह कर अंतर्मुखी बन गये और आनन्दघन के नाम से प्रसिद्ध हुवे। लाभानन्द से आनन्दघन बन-कर ये महायोगी-गच्छातीत, परम्परातीत, संप्रदायातीत होकर मात्र आत्मधर्मी रह गये। इसी कारण इनके स्तवन आज प्रत्येक परंपरा द्वारा सादर समादृत एवं स्वीकृत हैं।

इनकी चौबीसी पर तत्कालीन आचार्य ज्ञानविमलसूरि ने विक्रम सं० १७६९ में बालावबोध अर्थात् भाषा-टीका की थी। तत्पश्चात् मस्तयोगी ज्ञानसारजी (समय १८०१ से १८९८) ने भी इस पर स्तबक (भाषा टीका) सं० १८६६ कृष्णगढ में लिखा। इन्हीं दोनों टीकाओं का आधार लेकर बीसवीं सदी के कर्णधार विद्वानों आचार्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धिसागरसूरि, श्री मोतीचंद गिरधर कापडिया आदि ने सांगोपांग गुजराती एवं हिन्दी में विवेचन भी लिखे। विस्तृत प्रस्तावनायें भी लिखीं। इन सब विवेचनों का अवलोकन कर इस युग के परम योगी श्री सहजानन्दजी ने भी इन स्तवनों पर एक स्वतंत्र विवेचन लिखा था। सहजानन्दजी भी मूलतः भद्रमुनिजी के नाम से खरतरगच्छ परंपरा के एक श्रमण थे। आत्मलक्षी बन जाने पर ये भी परम्परा से मुक्त होकर सहजानन्दघन बने थे। साधना की अवस्था में इन्होंने इन स्तवनों पर अनुभूति-परक चिन्तन किया और आत्मानुभूति से उन्होंने इसपर विवेचन लिखा। दुर्भाग्य था कि यह चिन्तन-परक विवेचन पूर्ण नहीं कर पाये। सत्रह स्तवनों तक ही वे विवेचन लिख सके।

चिन्तन-पूर्वक लिखा गया यह विवेचन अपना एक वैशिष्ट्य पूर्ण स्थान रखता है। इसी विशिष्टता को ध्यान में रख कर प्राकृत-भारती अकादमी और श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, हम्पी के संयुक्त प्रकाशन के रूप में यह प्रकाशित किया जा रहा है।

"गच्छना भेद बहु नयण नीहालतां, तत्त्व की बात करतां न लाजे।"

जैसी पंक्तियों का जब रसास्वादन करते हैं तो वहां आत्म-द्रष्टा बनने की ओर ही प्रवृत्ति जागृत होती है। आत्माभिमुखी बनते ही यह व्यावहारिक संसार, गच्छ, परम्परा से साधक दूर होता जाता है और तत्त्वचिन्तक बनकर रत्नत्रयी को आधार मानकर आत्म साधना की ओर प्रयाण करता है। पाठक भी इस स्तवनों का एवं अनुभूति-परक विवेचन का तन्मयता से अध्ययन कर आत्मतत्व को पहचानने का प्रयत्न करें यही इस प्रकाशन का उद्देश्य है।

जैन एवं राजस्थानी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् तथा भाषा लिपि के विशेषज्ञ श्री भंवरलालजी नाहटा ने न केवल इस पुस्तक का संपादन कर अपितु विस्तृत प्रस्तावना लिखकर अनुगृहीत किया है अतः हम उनके आभारी हैं।

एस० पी० घेवरचंद जैन	म० विनयसागर	देवेन्द्रराज मेहता
मेनेजिंग ट्रस्टी	निदेशक	सचिव
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम	प्राकृत भारतीय अकादमी	प्राकृत भारती अकादमी
हम्पी	जयपुर	जयपुर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

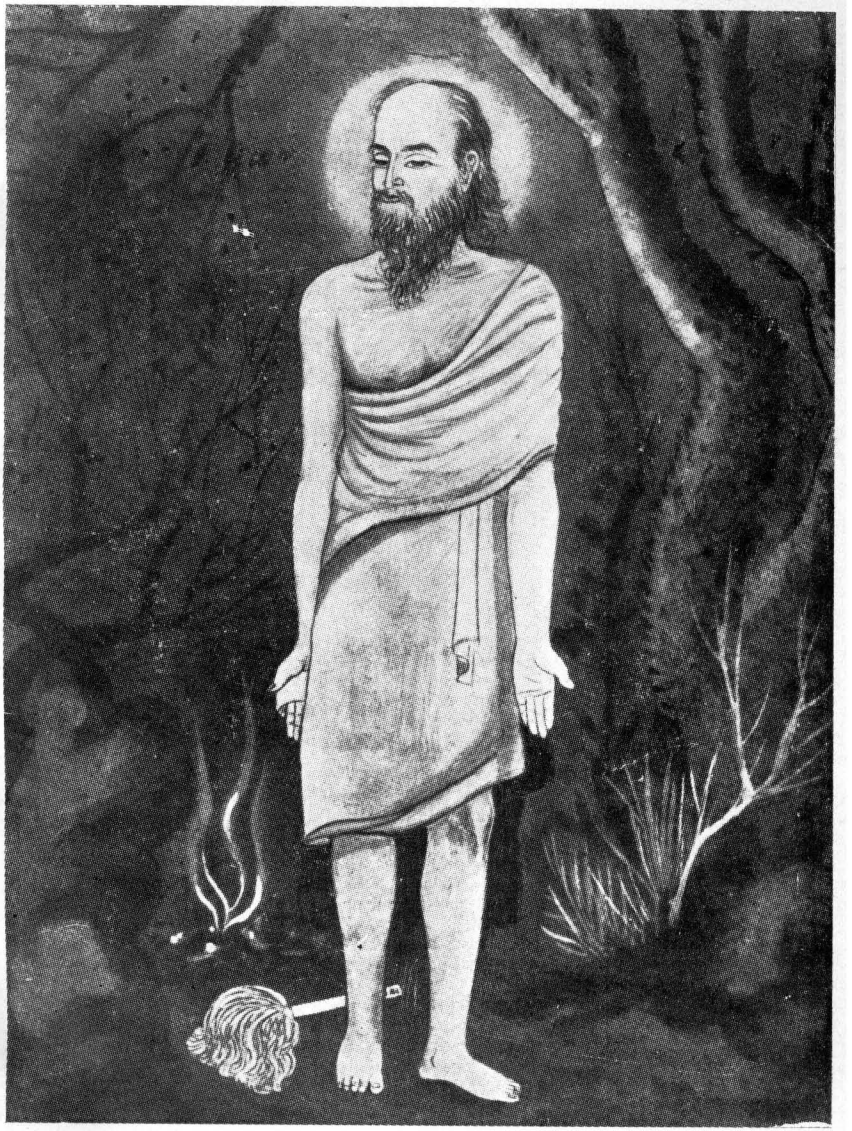

परम अवधूत योगिराज श्री आनंदघनजी महाराज

जन्म स्थान : मेड़ता महाप्रयाण : सं० १७३१ मेड़ता

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अवधूत योगीन्द्र श्री आनन्दघन

श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज का न केवल जैन समाज में ही अपितु भारतीय साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। वे उच्च कोटि के अध्यात्म तत्त्वज्ञ, निष्पृह साधक मस्त अवधूत योगी थे। वे उच्च कोटि के विद्वान, आत्मद्रष्टा और सम्प्रदायवाद से ऊँचे उठे हुए महापुरुष थे। उनकी रचनाएँ केवल चौवीसी, बहुत्तरी, कुछ पद एवं फुटकर कृतियों के अतिरिक्त अधिक न होने पर भी अत्यन्त गम्भीर और गहरे आशय-वाली होने से तत्त्व चिन्तक को चिरकाल तक अध्ययन, मनन और आत्म विकास करने की सामग्री प्रस्तुत करती है।

श्रीमद् की रचनाओं पर गत ८० वर्षों में मूल और विवेचन सम्बन्धी पर्याप्त प्रकाशन हुए हैं और वे प्रकाशन उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा गुजराती भाषा में हुए हैं। हिन्दी भाषा और खरतरगच्छ में तो केवल एक ग्रन्थ श्री उमरावचन्दजी जरगड़ द्वारा तैयार होकर प्रकाशित हुआ। ये सभी प्रयत्न बीसवीं शताब्दी के हैं। उनके सम-कालीन विद्वानों में सर्वप्रथम उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने लिखा था, वे स्वयं श्रीमद् के सम्पर्क में आये थे और उनकी प्रशंसा में अष्टपदी की रचना की जो पर्याप्त प्रसिद्ध है। उपाध्यायजो महाराज समर्थ विद्वान और अजोड़ ग्रन्थकार थे। वे न्याय, तर्क, दर्शन आदि सभी विषयों के शताधिक ग्रन्थ रचयिता थे पर दुर्भाग्यवश उनके अधिकांश ग्रन्थ आज अलभ्य हैं। श्री आनन्दघनजी महाराज की स्तवन बावीसी पर बालावबोध रचने का नामोल्लेख मात्र मिलता है। यदि ग्रन्थ प्राप्त होता तो सोने में सुगन्ध जैसा होता। दूसरे बालावबोधकार हैं श्री ज्ञानविमलसूरि। कहा जाता है कि वे उनके सम्पर्क में आये थे और आनन्दघन पद संग्रह के अनुसार उनके स्तवनों की नकल स्वयं उपाध्यायजी ने कराई थी। मेरे नम्र मतानुसार श्री ज्ञानविमलसूरि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्दघनजी के सम्पर्क में आये होते या उपाध्याय श्री यशोविजयजी का बालावबोध भी देखा होता तो वे स्तवनों का विवेचन उच्च कोटि का करते। यह विवेचन उन्होंने सं० १७६९ में अर्थात् अपनी ७५ वर्ष की आयु में आनन्दघनजी के निधन के ३८ वर्ष बाद में किया। ज्ञान-विमलसूरि का जन्म सं० १६९४, दीक्षा सं० १७०२ पन्यास पद सं० १७२७ में विजयप्रभसूरिजी द्वारा मिला। एवं आचार्य पद १७४८ व स्वर्गवास १७८२ में हुआ। यदि ये श्रीमद् आनन्दघनजी के सम्पर्क में आये होते तो अपने बालावबोध के अन्त में यह नहीं लिखते कि—"लाभानन्दजी कृत स्तवन एटला २२ दीसइ छइ, यद्यपि बीजा बे हस्ये तोही आपणा हाथे नथी आव्या।" वे श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज से सं० १७७७ में पाटण में मिले थे, उनके द्वारा सहस्रकूट जिनों की नामावली ज्ञात कर विद्वत्ता से बड़े प्रभावित हुए थे।

आनंदघनजी की चौवीसी पर दूसरा बालावबोध सं० १८६६ में श्रीमद् ज्ञानसारजी महाराज द्वारा लिखा गया जो उच्चकोटि के विद्वान और वयोवृद्ध मस्त योगी थे। उन्होंने लगभग चालीस वर्ष पर्यन्त प्रस्तुत चौबीसी का अध्ययन किया था फिर भी आनंदघनजी के गंभीर आशय का आकलन नहीं कर सके पर जो कुछ अध्ययन किया स्वयं को संतोष न होने पर भी श्रावकों/मुमुक्षुओं के आग्रह से जैसा बन पड़ा बालावबोध लिखा।

आचार्य श्री ज्ञानविमलसूरिजी का टब्बा श्री ज्ञानसारजी के अध्ययन की कसौटी में खरा नहीं उतरा। अनेक स्थानों में अर्थ स्खलना व अविचार पूर्ण टब्बा होने से उसकी मार्मिक आलोचना की है किन्तु उसका मनमाना संक्षिप्त प्रकाशन भीमसी माणक ने किया जिसमें से आलोचना के अंश बाद देकर प्राणहीन कर दिया है। यहाँ अध्ययनशील पाठकों की जानकारी के हेतु उन समालोचनात्मक अंशों को दिया जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

"ज्ञानविमलसूरि कृत टब्बा में थी जोइयै धारी नै लिखिये पिण ते टब्बा ने जोयुं ते किहां एक तौ अर्थ लिखतै अत्यन्त थोडुंज विचार्युं तेउना लिखवा थी जणाय छै ते कोई पूछै किहां, ते जणाऊं, ए अभिनंदन ना पदमां 'अभिनंदन जिन दर्शन तरसियं' एहनौ अर्थ अभिनंदन परमेश्वर ना मुख नुं देखवुं ते नै तरसियै छै एतलै कोई रीतै मिलै ते वांछियै एहवुं लिखतै एतलूं नहीं बिचार्युं दर्शन शब्दे जैन दर्शन नुं कथन छै किम एज गाथा में त्रीजे पदे "मत मतभेदे रे जो जइ पूछियै" ते परमेश्वर ना मुख देखवा मां मत मतभेदे स्युं पूछस्यै नै तेज अर्थ हुवै तो आगल पद मां 'सहुथापे अहमेव' ते परमेश्वर ना मुख दर्शन मां सर्वमत भेदी अहं एनू स्युं थापे पर अंत तांइ इमज लिख्ये गयुं।"

ज्ञानविमल करतै अरथ, कर्यौ न किमपि विचार।
तेथी ए तवना तणो, लेख लिख्यो अविचार ॥१॥

"कोई कहिसी बिना विचार्यौं स्युं लिख्यौ ते, पहिली गाथा मां "मत मतभेदे जो जइ पूछिये सहु थापे अहमेव' ए पद मां परमेश्वर ना मुख दर्शन नो स्यौ विशेषण फिरी दर्शन शब्दे सम्यक्त्व अर्थ लिख्युं तिहां इम न विचार्युं 'अभिनंदन जिनदर्शन, जैन दर्शन, ते बिना मत मतभेदे पूछतै अहं एव स्यूं थापै फिरी अति दुर्गम नयवाद, आगम वादे गुरुगम को नहीं, धीठाई करी मारग संचरूं, एउमां मुख नो सम्यक्त्व नौ स्यौ विशेषण मुख्य विचार्यो ज थोड़ो" (अभिनन्दन स्त० बाला०)

"इहां चंद्रप्रभुजी नी स्तवना मां प्रथम ज्ञानविमलसूरि इम लिख्युं हिवे शुद्ध चेतना अशुद्ध चेतना प्रतें कहै छै। अनादि आतमायै उपाधि भावै आदर्या माटै सपत्नी भावै सखी कही पिण शुद्ध चेतना नै सखी सुमति श्रद्धादि संभवै जिम × × ए स्वपक्षे वचन सूत्र कर्त्तायेज कह्यौ ते सूत्र कर्त्ता तौ भद्रक न हुतौ परं अर्थकर्त्ता—इम लिख्युं, ते ते जाणै"। (चन्द्रप्रभ स्तवन)

"ज्ञानविमलसूरि महापण्डित हुता तेउए उपयोग तीक्ष्ण प्रयुंज्यो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हुंत तौ समर्थ अर्थ करी सकता। तेउए तो अर्थ करतै विचारणा अत्यन्त न्यूनज करी, नै मैं ज्ञानसारें मारी बुद्धि अनुसारें संवत् १८२९ थी विचारतै विचारतै सं० १८६६ श्रीकृष्णगढ़ मध्ये टबौ लिख्यौ पर मैं इतरा वरसां विचार विचारतां ही सी सिद्धि थई एहवौ मोटौ पंडित विचार विचार लिखतौ तौ सम्पूर्ण अर्थ थातौ परं ज्ञानविमलसूरिजीये तौ असमझ व्यापारी ज्युं सौदौ बेच्यो करें नफो तोटो न समझै तिम ज्ञानविमलसूरिजीयै पिण लिखतां लेखण न अटकावणी एज पंडिताई नो लक्षण निर्द्धार कीनौ, व्यर्थ अर्थ समर्थित नी गिणत न गिणी।"
(सुविधिजिन स्त० बाला०)

सूत्रकर्त्तायें शीतल जिन नी स्तवना मां "शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन प्रभुता निग्रन्थता संयोगे रे' ए गाथा मां पांच द्विकसंयोगी त्रिभंगी बतावी छै नै अर्थकर्त्ता ज्ञानविमलसूरै एहवुं लिख्युं शक्ति पामी ने करुणा तीक्ष्णता कर्म हणवानै विसै व्यक्तज छै त्रिभुवन प्रभुता पामी ने उदासीनता ए त्रण गुण निग्रन्थता नै संयोगे अथवा शक्ति व्यक्ति ! त्रिभुवन प्रभुता अने निग्रन्थता ३ ए त्रिभंगी तुम मांहि सामठी छै ए लिखत तिहां थी ज लिख्यौ छै। आंई उपयोग प्रयुञ्जना थोड़ी प्रयुंजी, फिरी" इत्यादिक बहु भंग त्रिभंगी" तिहां बहुभंगत्रिभंगी ने स्थाने ए त्रिभंगी लिखतां ही थोडुं विचार्युं कां उत्पत्ति १ नास २ परमेश्वर मां नथो संभवता सत् १ असत् २ सद् सत् ३ ए त्रिभंगी नो संभव न छै। (शीतल जिन स्त० बाला०)

अर्थ करतै ज्ञानविमलसूरें "श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी एहनुं अर्थ लिख्युं यथा—श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी मारा मन मां वस्या छो, ते मारी विचारणाये इम न जोइये किम एतौ सुमति सहित आनंदघन नौ वचन परमेश्वर थी छै यथा"—

अर्थ करताये अर्थ करते थकै अहिं प्रमाद वशै ना भ्रान्ति वशै लिख्यो जणाय छे। एम अनेकरूप नयवादे एहनूं अर्थ इम लिख्यु छै शुद्ध

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय नये करी नयवादी अनेकरूपी छै ए वर्ण लिख्या छै ए वर्णो नो रहस्यार्थ लिखवा वालै ने भास्यौ हुस्ये बीजुं ए लिखत असंबद्ध प्रलाप भासै छै।" (श्रेयांस जिन स्त० बाला०)

अर्थकर्त्ता ज्ञानविमलसूरै ए गाथा नो अर्थ करतां, हूं छूं तो महा-मूर्खशेखर परं आइं तो मामूर थोडूज विचार्युं जणाय छै यथा.... स्युं सम्भव परं रागांगी नु वाय सरवुं ही मलार" (विमलजिन स्तवन बाला०)

ए स्तवन नौ अर्थ करतां अथकर्त्तायें मूलथीज न विचार्युं— धार तरवार नी तो सोहिली परं १४ जिन नी चरणकमल सेवामां विविध किरिया स्यूं सेवै, फिरी चरण सेवा मां गच्छ ना भेद तत्वंनी बात उदर भरण निजकाज करवानों स्यो सम्बन्ध ? फिरी चरण सेवा मां निरपेक्ष सापेक्ष वचन, झूठा साचा नो स्यो संबंध ? फिरी देवगुरु धर्म नो शुद्ध श्रद्धा नी शुद्धता, उत्सूत्र सूत्र भासवा नो पाप पुण्य नो सम्बन्ध स्यौ ? परं चरण सेवा—चारित्र सेवा ए अर्थ न पाम्युं चरण सेवा पद सेवा भास्युं तेहथी एज अर्थ ने सिधश्री थी मिती पर्यन्त अन्धोधुन्ध परै धकावता ज चाल्या गया।" (अनंतजिन स्त० बाला०)

अर्थकर्त्तायें अर्थ करतां "देखे परम निधान" आइं निधान शब्दै धर्म निधान एहवो लिख्यो नै आइं "निधान" शब्दै स्वरूप प्राप्तिरूप निधान ए अर्थ छै। धर्म प्राप्तिरूप अर्थ नथी संभवतुं...एहनौ पिण अर्थ वलित छै परं लिखवानो स्थानक नथी (धर्म जिनस्त० बाला०)

ए स्तवन मां अर्थकारके 'कहो मन किम परखाय' ए पद नो अर्थ करते मन प्रसन्नवंत थई ने कहौ एहवुं परमेश्वर थी कहयुं नें ए वचन विरुद्ध छै। परमेश्वर ने मन नुं मनन न संभवै" (शान्ति जिन स्त० बाला०)

ए स्तवन मां अर्थकर्त्तायें "नांखै अलवै पासे" ए पदनुं अर्थ इम लिख्युं जे चिंतवे कांई अलवै वांकू करै ते ए पद नूं तो अक्षरार्थ, अलवै

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सहिजै, पास पदनुं अर्थ जालि मां नांखै, शब्द नुं अक्षरार्थ जोइयै तो इम ; पर मोटा विबुध, भाषा ने सहिज जाणीने अर्थनोकर्त्ता अर्थ करतां विचारणा थोड़ी राखै परं एहवी भासा नो तो अर्थ, अर्थ करता नें जरूर विचारी ने अर्थ लिख्यूं जोइये किम "सितं वद एकं मा लिखः" एहवूं कह्युं छै ते माटे, फिरी आगल पिण लिखतौ थोडुं विचार्युं यथा— सूत्रकर्त्तायें प्रथम गाथा ना अंत पद मां ए पाठ कह्युं तिम तिम अलगुंभाजै ए पद नुं अर्थकर्त्तायें लिख्युं तिम तिम अलगुं अवलु मुक्ति मार्ग थी विपरीत भाजै छै एहवुं टब्बा में लिख्युं पर अलगुं शब्द नु अवलुं किम थाय तेथी अर्थकर्त्तायें आंई तौ अर्थ करतै मूल थी थोड़ी विचारणा कीनी। फिरी ते "समझे न मारौ सालौ" एहनुं अर्थ लिख्युं माह रोसालौ ते रीस घणी मन मां इर्ष्यावंत इम लिख्युं ने मन मां रोस बिना काम क्रोधादि मन स्युं नथी संभवता तेथी माहरौ सालौ तो न संभवै फिरी तेहनुं पर्यायार्थ करी ने लिख्यूं छै सालौ ते देश विशेषे धणियाणी ना भाई नै कहै छै ते देश विशेषे नो जइये लिख्युं जोइये जो सर्व देश विशेषे धणियाणी ना भाई नें सालौ न कहिता हुवै कोई देशे कहिता हुवै तौ परं सर्व देशो मां धणियाणी ना भाई सालौ ज कहै छै तइयैते देश विशेषे धणियाणी ना भाई न सालौ कहै ए लिखवानुं स्यूं कारण" (श्री कुन्थु जिनस्तवन बाला०)

ए तवनानो अर्थ करते अर्थ कारके "पर वडै छांहड़ी जिह पडै" एह पदनुं अर्थ पर कहितां पुद्गलनी बड़ाई नी छाया तथा स्व इच्छा जिहां पडै तेहिज पर समय नौ निवास एतले जे इच्छाचारी अशुद्ध अनुभव तेहिज परसमय कहिये। ए अक्षर लिख्यां पिण पर नो तो पुद्गल थाय परं वड़ शब्द नु बड़ाई अर्थ किम संभवै नै बड़ाई सी ? वृक्षनी छाया संभवै परं अर्थ कर्त्तायें अर्थ करतें कांइ थोडुं विचार्युं जणाय छै। फिरी एक पखौ लखि प्रीत नी तुम साथे जगनाथ" हे जगनाथ तुम साथे एक पखी प्रीत लाखे गमे नरमी छे। सरागी ते लाख गमे शुद्ध व्यवहारं तुम साथे प्रीत बांधनार छै प्रथम तो ए

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अक्षरार्थ मांहि कोई रहस्यार्थ नथी भासतुं फिरी गाथा ना उतर दल मां विरोधाभास छै पूर्व दल मां तो पर पक्ष संबंधी अर्थ लिख्युं, उत्तर दल कृपा करी ने तुम्हारा चरणं तले हाथ ग्रही ने मुझने राखज्यो ए स्व पक्ष स्युं" (श्री अरनाथ स्त० बाला०)

अर्थ कारके पांचमी गाथा ने बीजे पदे पामर करसाली पामर करसाओनो अलि पंक्ति ते बे पदोनो एक पद करी ने भूंछ एकज अर्थ कर्युं फिरी दशमी गाथा नें अंते त्रीजे पदे दोष निरूपण तिहां एक वार तो दोष नुं निरूपण कहिवूं ए अर्थ कर्युं फिरी वा लिखी ने दोष नुं निरूपण निर्दूषण थया एहवुं अर्थ करी दीधुं फिरी आठवीं गाथा ने त्रीजे पदे जग विघन निवारक पद नुं जगत ने विघनकारी ते निवारी ने एहवुं अर्थ करी दीधुं तेनुं अर्थ मारी बुद्धि प्रमाणे लिख्युं ते जोज्यो आनंदघन नुं आशय आनंदघन साथे गयुं (श्री मल्लि जिन स्त० बा०)

"अर्थकर्त्तायें जड़ चेतन ए आतम एकज" ए त्रीजी गाथा नुं अर्थ विरुद्ध परं विरुद्ध पण न कहाय एक ज गाथा मां त्रण ठिकाणे निरपेक्षक वचन लिखी गयुं प्रथम जड़ चेतनेति X X X ए ऊपर लिखवानुं स्युं कार्य ए एक स्थानके लिख्युं परं अन्य स्थानके लिख्युं तेहनुं केतलुं क लिखूं परं मोटा" (मुनिसुव्रत जिन स्तवन बाला०)

अर्थकर्त्तायें जे जे स्थानके जे जे विरुद्ध लिख्युं ते ते मारै लघु मुखै मोटाओना अर्थ नो अपमान केटलोक लिखुं पर अर्थकारके अर्थकरतै अल्प ही विचार्युं नहीं। अर्थकार मां विचारणा अल्प जणाय छै यथा—सिद्ध चक्राय श्रीपाल राजा—सूत्रकर्त्तायें तो आतम सत्ता विवरण करता इम गूंथ्यो ने अर्थकारके अर्थ करतां लिख्युं आत्मा नी सत्ता ने कर्त्ता नो विवरण आत्मा मा तिष्टमान छै ए स्यूं लिख्यूं इणै तो आत्म सत्ता नें विवरण करता एहवुं रहस्य कह्युं तेथी सांख्य योग वेई आत्म सत्ता ना विवरण कारक कह्या फिरी एहथी आगल पदमां "लहौ दुग अंग" तेनुं अर्थकारकै लहो नो लघु सामान्य अर्थ कर्या सूत्रकार नो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रहस्य लहौ दुग अंग ताम ए बे अंग लहौ-लाभौ नाम पामौ फिरी एथी आगल तीजी गाथा मां त्रीजो पद लोकालोक अवलंबन भजिए एहवुं अर्थ लिख्युं लोक ते पंचास्तिकायात्मक अलोक ते आकाशास्ति कायात्मक वा लोक ते रूपी द्रव्य अने अलोक ते अरूपी द्रव्य इम लिख्युं ते भेद सौगत मीमांसक कह्या तेमां पंचास्तिकायात्मक लोक मां स्युं भेद अलोक आकाशास्तिकायात्मक मां स्युं अभेद फिरी वा लिखने लोक अलोक नु अरूपी द्रव्य अथं लिख्युं ते सौगत मोमांसक मां पंचा-स्तिकायात्मक वा रूपी अरूपी द्रव्य एक तेज मां स्युं संभव परं लिख्या चल्या गया लिखतां लेखण अटकावणी नहीं एज रहस्य विचायुं जणाय छै फिरी आगल पिण घणै ठिकाणै इमज लिख्युं छै ने तमे ए टब्बा मा अर्थ अने ते टब्बा नो अर्थ जोइ नै विचारस्यो तइये प्रकट जणावस्यै एमां मैं निबुंद्धिये मारी मूढ मतें लिख्युं छै परं कर्त्ता नो गंभीराशय कर्त्ता समझें" (नमिनाथ स्त० बाला०)

'अर्थकारै अर्थ लिखते-जिण जोणी तुझ ने जोऊं तिण जोणी जोवो राज, एक बार मुझनै जोवो, ए पदो ने दोय स्थानकै जोवौ राज मुझनै जोवो राज नो अर्थ लिख्यो तुमे जोवो हे राजन् मुझ ने जोवा नो अर्थ लिख्यौ, जो पोता ना दास भाव मुझ ने जोवो निरखो आंइ एतलो तो विचारवो हतो ए कविराज राजन् तो अर्थ भिन्न विना पुन-रुक्ति दूषण दूषित पद योजना करवा थी रह्यौ। तेथी भलां आंई तो कांई विचायुं हतुं परं बेइ वार जोवो-जोवो अथं करी ने वेगला थई गया। फिरी "एक गुझय् घटतु नथी" तिहां गुझ्य ए ठहिराव्यौ के परणवा आव्या पिण पाछा फिरो गया ए स्यानौ गुझय सर्व लोक थी प्रगट माटे फिरी कारण रूपी नो अर्थ लिख्यो प्रभुजीये पोता नो उपा-दान शुद्ध थावा ने ए प्रभु निमित्ते रूप भज्यो सु प्रभुए भज्यो एवो वचन राजीमती नो छै परं धकाव्ये गयो। (श्रीनेमि जिन स्त० बा०)

प्रस्तुत बालावबोध के प्रारंभ में ७ दोहे मध्य के ५ दोहे और अन्त्य प्रशस्ति के १२ दोहों में अपनी लघुता दर्शाते हुए कहा है कि बुद्धि समृद्धि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बिना राज ऋद्धि की आशा भिखारी की चाह के सदृश है फिरभी गुरु कृपा से पंगु के गिरि उल्लंघन सदृश कही जायगी। आत्मानुभूति के बिना आनंदघनजी के पदों का अर्थ करना गत आँख/अंधे के अंजन लगाने सदृश है। वे लिखते हैं "आशय आनंदघन तणो, अतिगंभीर उदार। बालक बाँह पसार जिम कहै उदधि विस्तार १॥ "अथवा मेरी बुद्धि में उनका आशय पकड़ना दिन के प्रकाश और अमावस की रात्रि के अंतर जैसा और बालक के हाथ पसार के नभ के विस्तार बताने जैसा है। विद्वानों को पूछने पर भी कोई कार्य सिद्धि नहीं हुई। ज्ञानविमल सूरि के अर्थ को बार-बार पढने पर भी अविचारपूर्ण लगा तो वैसी बुद्धि निपुणता और शास्त्र ज्ञान के अभाव में भी ३७ वर्ष के अध्ययन पश्चात् भी श्रावक/मुमुक्षु के आग्रह से लिखना पड़ा है।

उपर्युक्त समालोचना से फलित होता है कि श्री ज्ञानविमलसूरिजी महाराज उपाध्यायजी के साथ आनंदघनजी से मिले, स्तवन लिखे आदि बातें केवल कल्पना सृष्टि है। उनका प्रकाशित चित्र भी जनता को भ्रान्ति में डालने वाला है। श्रीमद् ज्ञानसारजी के विवेचन से ज्ञात होता है कि श्रीमद् देवचंद्रजी महाराज ने उनकी चौवीसी के बाकी दोनों स्तवन लिखे थे। श्री आनंदघनजी ने चौवीसी कब और कहाँ बनाई इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है श्री यशोविजयजी महाराज का जन्म १६८१ और दीक्षा स० १६८८ के आसपास हुई थी। वे गुरु महाराज के पास ११ वर्ष अभ्यास कर उनके साथ काशी जाकर ३ वर्ष और ४ वर्ष आगरा विद्याध्ययन कर १७०६-७ में गुजरात पधारे और ग्रन्थ रचना में लगे रहे। उस समय तपागच्छ गच्छ भेद और शिथिलाचार व श्री पूज्यों के आतंक से प्रभावित था। स्वयं यशोविजयजी महाराज को उनके प्रभाव में आने को विवश होना पड़ा था।[1]

---

१ तेमने अढार दिवस सूरि नी नजर तले उपाश्रय नी कोटड़ीमां राख्या हता (पृ० १२५)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय यशोविजयजी न्याय विशारद, तार्किक शिरोमणि और अपनी शैली के मूर्धन्य विद्वान थे जिनके समकक्ष सहस्राब्दी में कोई नहीं आ सका। उन्होंने शताधिक ग्रंथ रचे किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि उनके अध्येता नहीं मिले अन्यथा उनकी अनेक प्रतियाँ ज्ञान भण्डारों में मिलती और वे लुप्त नहीं होते। यदि उनकी आनंदघन चौवीसी बालावबोध उपलब्ध हो जाता तो सोने में सुगंध होती, परन्तु जैन समाज अपनी महान् ज्ञान समृद्धि की रक्षा करने में ही अक्षम रहा, अध्ययन तो दूर रहा।

श्री ज्ञानविमलसूरिजी के पश्चात् ज्ञानसारजी के बालावबोध का परिचय ऊपर आ गया है। बीसवीं शताब्दी में शताधिक ग्रंथ रचयिता, अध्यात्म रसिक, अपनी दीक्षा से पूर्व श्रीमद् देवचंद्रजी महाराज के आगमसार का सौ वार अध्ययन करने वाले, उनकी प्राप्त समस्त रचनाओं को प्रकाश में लाने वाले महान जैनाचार्य श्री बुद्धिसागरसूरि महाराज हुए जिन्होंने 'आनंदघन पद संग्रह भावार्थ' नामक महान् ग्रंथ पादरा से प्रकाशित किया। उसकी द्वितीयावृत्ति बम्बई से सचित्र छपी जिस में प्रारंभ के ६ पेज १४ चित्र, ११३ पेज में उपोद्घात व अध्यात्मज्ञाननी आवश्यकता, २०६ पेज में आनंदघनजी का जीवनचरित्र एवं ४५६ पृष्ठों में पद संग्रह और स्तवन प्रकाशित हुए हैं। आचार्य श्री परमश्रद्धेय एवं महान् लेखक व कवि थे किन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उन्होंने यशोविजयजी महाराज के मिलन स्वरूप अष्टपदी के सिवाय बिना किसी प्रमाण के अनुमानिक कल्पना सृष्टि द्वारा विस्तार पूर्वक प्ररूपणाएं कर डाली। मैं यहाँ कुछ बातें प्रस्तुत करता हूँ।

"आ योगीवर नुं मूल नाम लाभानंदजी हतुं तेणे तपगच्छ मां दीक्षा अंगीकार करी हती तेमना पदो लगभग हिन्दुस्तानी मिश्रित मारवाड़ी भाषा मां रचायला छे (आमुख वृ० ११)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) श्रीमद् आनंदघनजो नुं दीक्षा समयनुं नाम लाभानंद जी हतुं (२) तपा गच्छ मां दीक्षित थया हता (३) जन्मस्थान गाम के प्रदेश, जन्म तिथि के संवत् संबन्धी लेखित हकोकत प्राप्त थती नथी (४) तेओ ना नजीक ना अने साथेना-मुनिवर्यो ए पण लखेला ग्रंथो मां आ हकीकत जोवामां आवी नथी इत्यादि १० बातों में लल्लुभाई करमचन्द्र दलाल ने नं० तपागच्छ मां दीक्षित थया हता पर "आमाटे बधु तपासनी जरूर जणाय छे" लिखा है तथा आगे भी कई बातें लिखी है।

श्रीमद् आनंदघन जीवनचरित नी रूपरेखा (पृ० १२२) में चौवीसी के कुछ शब्दों को उद्धृत करते हुए उन्हें गुजरात में जन्मे हुए सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया गया है जब कि अधिकांश शब्द दोनों देशों में समान रूप से प्रयुक्त होते थे। खासकर सीमावर्त्ती गाँवों में तो कोई अन्तर था ही तहीं। फिर भी उन्हें गुजरात में जन्मे हुए मान सकते हैं लिखकर पृ० १२५ में श्रीमदे ज्ञान अने वैराग्य योगे कोई तपा गच्छीय मुनिवर पासे साधु व्रत नीदीक्षा अंगीकार करी हती"···तेओ श्रीए तपा गच्छ मां दीक्षा अंगीकार करी हती अने तेमनुं नाम लाभानंदजी हतुं"···"पोता ना गुरु नी पेठे तेओ तपागच्छनी समाचारी प्रमाणे साधु धर्मनी आवश्यकादि क्रिया करता हता"

पृ १३१ में सबलपुरावो लिखते हुए-एक वखत श्री तपागच्छ गगन दिवामणि श्री विजयप्रभसूरि विहार करता करता मेड़ता पासे ना गाम मां गया—त्यां श्री आनंदघनजी महाराज नो मुलाकात थई श्रीमद् आनंदघनजीए तप गच्छ ना महाराज श्री विजयप्रभसूरि ने वंदन कर्युं अने कहयुं के आपना जेवा शासन रक्षक सूरि राजा नी कृपा थी हुँ मारा आत्मा नुं हित साधवा प्रयत्न करुं छुं श्री विजय-प्रभसूरिजीए श्रीमद् आनंदघनजी ने एक कपड़ो ओढाडयो अने कहयुं के तमे तमारा आत्मा ना ध्यान मां सदाकाल प्रवृत्त थाओ श्री

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वीर प्रभुना वचनो ने अनुसारे अप्रमत्त पणे आत्मा ना गुणो प्रकट करवा प्रयत्न करो, श्री विजयप्रभसूरिजी श्रीमद् आनंदघनजी नी सरलता देखी बहु आनंद पाम्या। आनंदघनजी नी त्याग-वैराग्य दशा जोई ने श्री विजयप्रभसूरि पासे रहेला साधुओ खुश थया। श्रीमद्-आनंदघनजी त्यांथी अन्यत्र विहार करी गया।

इसी प्रकार आनंदधनजी की चर्या, लाभानंद से आनंदघन नामप्रसिद्धि तथा उनके सन्बन्ध में लोगों की धारणा तथा उपाध्याय श्री यशोविजयजी का आबू की गुफाओं में विचरते समय जा कर मिलने की विस्तृत बातें लिखते हुए उपाध्यायजी कृत अष्टपदी लिखी है। इनमें प्रमाण भूत अष्टपदी सही है वाकी अनुभूति की बातें आत्मानुभवी योगिजन ही बता सकते है। आगे चलकर लिखा है कि आनंदघनजी ने भी उपाध्यायजी के गुणों की अष्टपदी रची है बीजापुर के शा० सुरचंद सरूपचन्द्र ने उन्हें कहा। ऐसी कृति प्राप्त हुए बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

श्री विजयप्रभसूरि जी आदि कब मेड़ता गये ? उन्हें आनंदघनजी मिले इसके शरुप रास आदि ग्रंथों में लिखे प्रमाण बिना केवल कल्पना सृष्टि ही कही जायगी आचार्यश्री ने इसे सबल पुरावा लिखा है पर पट्टावली जनश्रुतियों में घटना का रूपान्तर हो जाता है और कथानायक का नाम विस्मृत होकर हरेक बात अपने इष्ट आचार्य के संबन्ध में जुड़ जाती है। चमत्कार की बातों में भी यही समस्या ऐतिहासिक परिशीलन करने वालों के समक्ष उपस्थित रहती ही है।

साधारण जनता चमत्कार के प्रति विशेष दिलचस्पी रखती है। चमत्कार आश्चर्यजनक घटना को कहते हैं। महापुरुष चमत्कार के अधिष्ठान हैं, पर वे इच्छा पूर्वक चमत्कार दिखाते नहीं वे तो स्वतः होते हैं। अगर होनहार होता है तो उन्हें स्फुरणा होती है और उसके प्रभाव से वह कार्य हो जाता है। तीर्थङ्करों के चौतीस अतिशय तथा युगप्रधान

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

षुरुषों के पुण्य प्रभाव से घटनेवाली घटनाएं इसी तरह स्वतः होती है। ऐसी घटनाएं अनेक प्रचलित हैं जो सम्बन्धित महापुरुषों का नाम विस्मृत होकर किसी अन्य अभीष्ट महापुरुष के नाम से प्रचलित हो जाती है। आप देखेंगे हेमचन्द्राचार्य, जिनदत्तसूरि, जिनप्रभसूरि, जिन चंद्रसूरि, हीरविजयसूरिजी के नाम से चढी हुई एक दूसरे से संलग्न घटना विपर्यय है।

श्री बुद्धिसागरसरिजी महाराज आदि के द्वारा लिखित श्रीमद् आनंदघनजी महाराज के जीवनचरित्र में ऐसी कई घटनाएं हैं वास्तव में अनायास घटित चमत्कारों के बनिस्पत इच्छापूर्वक घटित चमत्कार आत्म लब्धि का अपव्यय और संसारवर्द्धक स्टेशन बढाने बाते होते हैं। यहां श्रीमद् के संबन्धित चमत्कारों की समीक्षा अभीष्ट है।

१ श्रीमद् के ध्यान की उच्च दशा में गुफावास करने पर सिंह ब्याघ्र, सर्पादि पड़े रहते थे जिनकी गर्जना से साधारण व्यक्ति का हृदय फट जाय ऐसी गुफाओं में साधना करते थे। इस तपोबल और आत्म लब्धि का हम शतश: समर्थन करते हैं।

२ मित्र योगी द्वारा प्रेषित स्वर्णरस सिद्धि को फैंक देना और उसके द्वारा तिरस्कार पूर्ण चैलेंज देने पर श्रीमद् द्वारा संकल्प सिद्धि से चट्टान पर प्रश्रवण कर उसे स्वर्णमय बना देना—लोककथा प्रसिद्ध है, समीक्षा आवश्यक नहीं।

३ जोधपुर के महाराजा की दुहागिन रानी द्वारा महाराजा की कृपा दृष्टि हेतु यंत्र मांगने पर "राजाराणी दो मिले उसमें आनंदघन कुं क्या ?" लिखकर दिये कागज के यंत्र को धारण करने पर वह प्रीति पात्र हो गई। इसी प्रकार की कथा श्रीमद् ज्ञानसारजी को उदयपुर महाराजा द्वारा दुहागिन रानी का यंत्र खोलकर देखने पर "राजा राणी सुं राजी हुवै तो नाराणे ने काइं राजा राणी सु रूसै तो नाराणे

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ने काइं ?" लिखा मिला। लोक कथा का हार्द एक है और नायक भिन्न। (देखिये हमारी—ज्ञानसार ग्रन्थावली)

४ जोधपुर नरेश के पधारने पर ज्वरग्रस्त आनंदघनजी ने वार्त्ता—उपदेशहेतु अपना ज्वर कपड़े में उतार रखा। थर-थर धूजोते कपड़े का रहस्य राजा ने ज्ञात किया। यही बात महाराजा सूरतसिंह और ज्ञानसारजी के लिए प्रसिद्ध है (ज्ञानसार ग्रन्थावली पृ० ३९) इसी से मिलती जुलती बात सुलतान महमद के जाने पर ज्वरग्रस्त श्री जिनप्रभसूरिजी द्वारा ज्वर को पानी में उतारने और उबलने लगने की उपलब्ध है (देखिए-शासन प्रभावक जिनप्रभसूरि और उनका साहित्य पृ० ७०)

५ मेड़ता में श्रेष्ठि पुत्री को मृत पति के साथ चिता प्रवेश करते रोकने के लिए उपदेश में "ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे" स्तवन निर्मित होना। चौवीसी के २२ स्तवन निर्माण को यशोविजयजी और ज्ञानविमलसूरि द्वारा छिपकर सुनना और २ स्तवन न बन सकना तथा चित्र निर्माणकर गुफा में उपाध्यायश्री द्वारा ज्ञानविमलसूरि को लिखाना अप्रामाणिक है। कोई आधार नहीं। ज्ञानविमलसूरिजी के टब्बे के उपर लिखी ज्ञानसारजी की समीक्षा ही पर्याप्त है।

६ जोधपुर महाराजा के धन की आवश्यकता पड़ने पर मेड़ताकी कोटचाधिपति सेठानी के यहाँ सिपाहियों द्वारा घेरा डालने और आनंदघनजी को प्रार्थना करने पर उन्होंने अक्षय लब्धिसे एक-एक तरह का सिक्का रखवाया और उस में से अखूट धन से कितने ही घड़े भर दिये। इन सब दन्तकथाओं का विस्तृत लेखन हुआ है। महाजन वंश मुक्तावली पृ० २८ में बाँठियों के इतिहास में हरखचंद की संतान हरखावत कहलाए। मेड़ता नगर में बादशाह खाजे की दरगाह जाते आया। द्रव्य की आवश्यकता होने से हरखावत को बुलाकर ५२ सिक्के के ६ लाख रुपये मांगे चिन्ताग्रस्त सेठ आनंदघनजी मुनि पास

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

गया मुनि ने योगसिद्धि से ५२ सिक्के पूर्ण करे बादशाह ने हरखावत को शाहपद दिया। मुनि दर्शनविजय त्रिपुटी महाराज ने जैन परम्परानो इतिहास में इस बात का उल्लेख करते हुए आनंदघनजी को 'ते तपागच्छनाहता' लिखा है।

७ एक वार किसी गाँव के निर्धन वणिक के यहाँ श्रीमद् ठहरे थे। उसे अर्थचिन्ता में रुदन करते देखकर उन्होंने लोहा मंगाया। वणिक ने इकसेरिया वाट लाकर दिया। श्रीमद् प्रातः काल विहार कर गये और उनके स्थान पर लोहे के सेर को सोने का पाया।

८ श्रीमद् यशोविजयजी द्वारा स्वर्ण-सिद्धि की वांछा के लिए जाने पर लघु शाँका निवृत्यर्थ बैठने की, सती होने वाली सेठानी अध्यात्मिक उपदेश देने पर तथा किसी राजा की दो पुत्रियों को रुदन करते उपदेश द्वारा शोक दूर करने आदि पर भी श्रीमद् के चारित्र पर दोषारोपण और दोनों हाथ अग्नि पर रखने और विश्वस्त करने आदि कितनी ही किम्वदन्तियों पर विस्तृत आलेखन हुआ है जिसकी समीक्षा अनावश्यक है।

श्रीमद् की पद रचना के विविध प्रसङ्गो फो लेकर तत्सम्वन्धी लोकोक्तियां जैसे पारने के दिन आहार न मिलने, चमत्कार लोभी श्रावकों के तथा जैनेतर जिज्ञासु जन के प्रश्नादि पर भी आचार्य श्री ने काफी विवेचन किया है।

श्री आत्मारामजी महाराज ने बीसवीं शताब्दी में बने समेतशिखरजी के ढालिया के अनुसार जो परवर्त्ती अनैतिहासिक बात लिखी है कि आनंदघनजी सत्यविजयजी के लघु-भ्राता थे यह सौ वर्ष पूर्व की कल्पना सृष्टि है—"तेमना लघुभाई लाभानंदजी, ते पिण क्रिया उद्धार जी"। वास्तव में आनंदघनजी सत्यविजयजी से अवस्था में बड़े थे और न उनका किसी भी प्रकार से पारस्परिक पारिवारिक संबन्ध

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ही था। सत्यविजय पन्थास लाडलु (? नु) के दूगड़ वीरचंद के इकलौते पुत्र थे यह जिनहर्ष कृत सत्यविजय निर्वाण रास से सिद्ध है। अतः न तो वे दोनों भाई-भाई थे और न एक स्थान में उनकी जन्मभूमि ही थी।

मेड़ता चातुर्मास में नगरसेठ के आने के पश्चात व्याख्यान प्रारंभ किया जाता था। विलम्ब हो जाने से समय पर आनंदघनजी द्वारा व्याख्यान प्रारंभ करने पर नगर सेठ द्वारा उपालंभ देने पर वे सब कुछ छोड़ कर जंगल में चले जाने की घटना में सभी एकमत हैं। किन्तु रायचंद अजाणी ने अवधूत आनंदघन चौवीसी में उनके देह विलय स्थान को गुजरात ना मेड़ता लिखा है। मुनि श्रीरत्नसेन विज़यजी पृ-१७ में गुजरात प्रदेश के गाँव में उपर्युक्त नगरसेठ के आगमन से पूर्व व्याख्यान प्रारंभ की घटना गुजरात के गाँव में लिखी है। रायचंद अजाणी ने ज्ञानसारजी के "आशय आनंदघन तणो" दोहे को ज्ञानविमलसूरि कृत एवं रत्नसेनविजयजी ने इस दोहे को पृ १४ में उपाध्याय यशोविजयजी कृत लिखा है, पर उपसंहार में उन्होंने श्री ज्ञानसार जी महाराज का ही लिखा है। आनंदघनजी की जीवनी की घटनाओं में उन्होंने भी बुद्धिसागरसूरिजी का ही अनुधावन किया है।

९ दिल्ली के शाहजादे का बीकानेर आना, वृद्ध यति की मश्करी और अश्वारूढ शाहजादे को "बादशाह का बेटा खड़ा रहे" 'कह कर आनंदघनजी द्वारा स्तंभित कर देने की बात भी अप्रामाणिक है। इस के विषय में वयोवृद्ध कोठारी जमनालालजी द्वारा मैंने सुना था कि महाराजा गंगासिंहजी के समय में जब वे नाबालिग थे तो तालव्होट साहब ने दूसरे चिदानंदजी को उपालम्भ और अपशब्द कहे कि आप महाराजा को उल्टासीधा सिखाते हैं। इसी पर यह घटना हुई थी। यह चित्र और घटना का आनंदघनजी से कोई संबन्ध नहीं है। मुगल इतिहास में किसी भी शाहजादे का दिल्ली से बीकानेर आना प्रमाणित

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। आनंदघनजी के समय महाराजा करणसिंह थे जिसे मुगल इतिहास में करण भुरटिया 'लिखा है। वे सुबह-सुबह तुर्क का मुंह नहीं देखते और दरबारी मुसलमानों को भी दाढी मुंडाये रखना पड़ता था। कोई केन्द्र का अधिकारी मुसलमान आता तो उसे भुरट (काँटे) के मार्ग से लाया जाता और खारा पानी पिलाया जाता।

श्री बुद्धिसागरसूरिजी ने आबू की गुफाओं, मंडलाचल की गुफाएं, सिद्धाचल, गिरनार, ईडर, तारंगा आदि में विचरने की बात लिखी है। उसका लिखित प्रमाण कोई नहीं मिलता। पृ० १५४ में जोधपुर के अपुत्रिये राजा के आनंदघनजी की अंतःकरण से सेवा द्वारा पुत्र प्राप्ति होना लिखा है इस विषय में प्रमाणाभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता।

श्री आत्मारामजी महाराज ने लिखा है कि पन्यास श्री सत्य-विजयजी ने आनंदघनजी के साथ कितने ही वर्ष वन में वास कर के चारित्र पालन किया था, इस चर्याका विस्तृत वर्णन सारा निराधार है। सत्यविजय निर्वाणरास में तत्कलीन वर्णन है जिसमें आनंदघनजी का कहीं नाम भी नहीं है। जिनहर्ष गणि के रचित रास के अनुसार सत्यविजयजी लाडनुं (सवालक्ष देश) के दूगड़ वीरचंद की भार्या वीरमदे के इकलौते पुत्र थे और १४ वर्ष की उम्र में अर्थात् १६७७ में वैराग्यवासित हो कर दीक्षित हुए थे। माता पिता अमूर्त्तिपूजक-लौंका मत के थे पर पुत्र के वैराग्यकी दृढता को देखकर लौंका पूज्य को बुलाकर दीक्षा लेने का कहा। पर वैरागी शिवराज को हितकारी जिन पूजा की मान्यता वाले सुविहित मार्ग में चारित्र लेने का आग्रह देख कर विजयसिंहसूरिजी महाराज को बुलाकर धूमधाम से दीक्षा दिलाई। रास में उनके एकाकी विहार का लिखा है न कि आनंदघनजी के साथ। जिनहर्षजी के अनुसार उसके छट्ठ-छट्ठ पारणा करते हुए मेवाड़ उदयपुर, मारवाड़ मेड़ता, नागोर हो कर १७२९ में सोजत में पन्यास पद प्राप्त किया फिर सादड़ी, गुजरात पाटण, अहमदाबाद

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बहुत बिचरे, शिष्य परिवार बढा और ८२ वर्ष की आयु पूर्णकर १७५६ पोष सुदि १२ शनिवार सिद्ध योग में स्वर्गवास हुआ। इसके एक मास बाद माघ सुदि १२ को रास की रचना हुई अतः इसे ही प्रामाणिक माना गया है। श्री मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया के मतानुसार सत्यविजयजी ने सं० १७२९ (जिनहर्षकृत रास पृ-११४) में क्रियोद्धार पन्यास पद के पश्चात् ही किया होगा। और क्रियोद्धार के पूर्व आनंदघनजी के साथ वनवास में साधना करना नहीं जँचता श्री आनंदघनजी का देहविलय सं० १७३१ में होना सिद्ध है और वह भी मेड़ता में हुआ था और पन्यास श्री सादड़ी से गुजरात चले गए थे। ऐसी स्थिति में पन्यास सत्यविजय और आचार्य ज्ञानविमलसूरि के श्रीमद् आनंदघनजी से मिलने और साथ में चिरकाल रहने की बात काल्पनिक सिद्ध होती है।

आनंदघनजी के जीवनचरित्र और पद पर दूसरा बड़ा कार्य किया है मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया ने। उन्होंने श्री बुद्धिसागरजी के महान् ग्रन्थ पर इस प्रकार लिखा है :—

'इतिहास ना अभ्यासीए आग्रही प्रकृति न राखतां जेम बने तेम खुल्ला दिल थी काम लेवुं, कोई बात ना पक्ष, मत के संप्रदाय मां खेंची जवा प्रयत्न करवो नहीं अने वधारे आधारभूत हकीकत प्राप्त थतां पोतानी जातने सुधारणा माटे खुल्ली (open) राखवी आवा नियम थी ऐतिहासिक बाबत मां शोधखोल चलाववा मां आवे तो एकंदरे सारग्राही बुद्धिवाला माणसो बहुलाभकारी घणो नवीन प्रकाश नाखी शके मारुं मानवुं छे अने ते नियम विसारी देवा थी ऐतिहासिक चर्चा मां बहु नुकशान थयुं छे अने आयंदे पण थशे एवो भय रहे छे, अत्यार सूधी मां आनंदघनजी ना चरित्र सम्बन्धी मोटा पाया उपर प्रयत्न मुनि श्री बुद्धिसागरजीए करेलो जोवा मां आवे छे, परन्तु कम-नसीबे तेओए पृथक्करण दृष्टिए अने वैज्ञानिक ऐतिहासिक रीति नो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग लेवाने बदले तेओअे पोताना विचार प्रमाणे आनंदघनजी केवा होवा जोइए बात पर लक्ष्य आपी चरित्र निरूपण कर्युं छे, अने धणी खरी जग्याए जाणे चरित्र-लेखक बनावो बन्या ते वखते हाजर होय अने अभिप्रायो सांभल्या होय अथवा बातो नजर जोइ होय एवी एकान्तिक भाषा मां लेख लख्यो छे; पृथक्करण करवानी तेम ने रुचि न होवा ने लीधे बहु बातो अव्यवस्थित पणें दाखल थई गई छे, अव्यवस्थित अभिप्रायो नो एकत्र समूह करवानी पद्धति ने बदले जरा विशेष संभाल भरी तपास चलाववा मां आवीहोत····

उपर्युक्त अभिप्राय से मैं सहमत हूँ। अब कापड़ियाजी के ग्रन्थ पर विचार करते हैं। आपने पन्यासजी श्री गंभीरविजयजी जिनसे पदों के अर्थ करने में बड़ा सहयोग मिला—द्वारा श्रीमद् की जन्मभूमि पूर्वाग्रह युक्त बुन्देलखण्ड—जहां के पं० गंभीरविजयजी स्वयं थे—प्रान्त में मानने में सहमति दी है। यद्यपि कापड़ियाजी ने श्रीमद् के गुजरात-सौराष्ट्र में जन्मे होने का भाषा विज्ञान द्वारा विस्तृत आलोचना कर राजस्थानी का पलड़ा भारी किया है। श्रीमद् का नाम लाभानंद स्वीकार है, और यशोविजयजी के तथा सत्यविजयजी के साथ संबन्ध चिरकाल बताकर अन्तिम चौमासा पालनपुर बताते हुए 'तेमनीदीक्षा तपगच्छ में थईहती लिखा है। फुटनोट में लिखा है कि—कृपाचंदजी तेमने खरतरगच्छ मां थएल होवा नुं जणावे छे अने तेना चेलाओ (गोरजीओ) हाल हैयात छे एम कहे छे. तपगच्छ मां आ महात्मा थयेला होवानां घणा कारणो जणाय छे ते आप्या छे. खरतरगच्छ संबंधी आधारभूत हकीकत मलशे तो विचारवा मां कोई प्रकार नो आग्रह नथी. हजु सूधी कृपाचंदजी ना कथन सिवाय बीजुं एक पण साधन खरतर गच्छना अनुमान ने मजबूत करे तेवुं जणायुं नथी. गच्छ माटे आनंदघनजी नेज आग्रह न होतो तो पछी तेमना संबंधमां लेख मां आग्रह न ज होवो जोइए, तो पण हकीकत तो जे "सत्य समजाणी होय तेज प्रकट करवी जोइए वि० क०"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ आनंदघनजी खरतरगच्छ में हुए इसके सम्बन्ध में मुनि श्री कृपाचंदजी (सं०१९७२ से आचार्य श्री जिनकृपाचंदसूरि) द्वारा मेड़ता में उनके वृद्धावस्था में आकर जिस उपाश्रय में रहे वह खरतर गच्छ का उपाश्रय था, उनका स्तूप भी विद्यमान था, उनकी परम्परा के यतिजन भी विद्यमान थे इसके सिवा वे और क्या कहते यदि उनसे इसके सम्बन्ध में और पूछा जाता तो शोध करवायी जाती। वे-तो इतिहास शोधक नहीं थे, आगम व जैन दर्शन के उच्च कोटि के विद्वान थे तीस बत्तीस वर्ष केवल शास्त्राभ्यास किया था। सं-१९१३ में जन्मे थे और पुराने यतिजनों के सम्पर्क में आये हुए थे। लाखों की सम्पत्ति त्यागकर, संघ के सुपुर्द कर क्रियोद्धार किया था नागपुर में क्रियोद्धार कर वर्षों बाद १९५७ में बीकानेर आकर फिर १९८४ से १९८७ तक बीकानेर रहे उसी समय हमें उनका विराजना हमारे मकान में होने से हमें सत्संग का सौभाग्य मिला था और धार्मिक अभ्यास, इतिहास और साहित्यान्वेषण कार्य प्रारंभ हुआ था। पादरा से वकील मोहनलाल हीमचंद (६८ वर्षीय) व उनके सुपुत्र मणिलाल पादराकर से भी बीकानेर आनेपर घनिष्ट सम्बन्ध हुआ था। श्री आनंदघनजी महाराज जब सम्प्रदायवाद से ऊपर उठ गये थे तब उन्हें बुद्धिसागरसूरिजी की भाँति सम्प्रदायवाद में लाने के लिए अपनी धारणानुसार कल्पना सृष्टि करके सभी तपागच्छीय विद्वानों के इर्दगिर्द परिचय देकर लिखना और प्रमाणित करने का कार्य उसी कहावत को चरितार्थ करता है कि एक अप्रमाणित बात को सौ वार प्रस्तुत करने पर वह सत्य सी प्रतिभासित होने लगती है वही श्रीमद् आनंदघनजी के सम्बन्ध में हुआ। मेरे जन्म से पहले की बात है उपरोक्त प्रकाशनों को देखकर भी इतने वर्ष इस गहराई में नहीं गया क्योंकि वे सम्प्रदाय-वाद से ऊँचे उठे हुए महान् योगी थे। अन्तिम आत्मानुभवी विशिष्ट ज्ञानी गुरूदेव श्री सहजानंदघनजी (भद्रमुनि) महाराज से ज्ञात हुआ कि श्रीमद् आनंदघनजी, श्रीमद् देवचंद्रजी व श्रीमद् राजचंद्रजी तीनों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

महापुरुष महाविदेह में केवली अवस्था में विचरते हैं और ज्ञानियों की कृपा से सब कुछ ज्ञात होने पर भी बम्बई में उनके महाप्रयाण से चार मास पूर्व मेरे द्वारा पूछनेपर रूपउदय निवास में वे केवल इतना ही कहकर रुक गये कि उनका जन्म व महाप्रयाण भी मेड़ता में ही हुआ था। एक ओसवाल सेठ के चार पुत्रों में तृतीय पुत्र थे। मेरी जिज्ञासा गच्छ, गुरू और अन्य जानकारी प्राप्त करने की थी पर उन्होंने कहा— स्वयं आनंदघनजी ने ही अपने को इस विषय में निर्लेप रखा, तो और अधिक बतलाना उचित नहीं।

जब यह स्पष्ट है कि हमें श्री आनंदघनजी को सम्प्रदायवाद में नहीं लाना है फिर भी उपाध्याय श्री यशोविजयजी जैसे महापुरुष के सम्पर्क में आकर अष्टपदी निर्माण एक गुणग्राहकता का और सौहार्द का आदर्श मानते हुए आनंदघन बाबा की अपूर्व जीवनी के संबंध में खरतरगच्छ के प्राचीन इतिहास अन्वेषण की भावना जागृत हुई। और मेरे अन्वेषण में जो आया वह यहाँ विस्तार से लिखता हूँ श्रीमद् ज्ञान-सागरजी ने गुजरात में प्रसिद्ध कहावत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आनंदघन टंकशाली, जिनराजसूरि बाबा अवध्यवचनी, देवचंदजी गटरपटरिया, (एक पूर्व का ज्ञान आगे-पीछे कथन भरा पड़ा है) यशोविजयजी टानर दुनरिया (न्यायशास्त्र का अथाह ज्ञान-आपही थापे आपही उथापे) मोहनविजयजी लटकाला उपाधियों से अलंकृत है। गुजरात में प्रचलित कहावत के अनुसार श्रीमद् आनंदघनजी अधिकतर राजस्थान में ही विचरे और मेड़ता उनका प्रधान क्षेत्र था। आनंदघनजी के वचन एकदम खरे टंकशाली हैं। यशोविजयजी का पूर्व जीवन वाराणसी आगरा और बाद में गुजरात राजस्थान आदि में बीता। देवचंद्रजी ने अपने जीवन का पूर्वार्द्ध राजस्थान में और उत्तरार्द्ध गुजरात में बिताया। मोहनविजयजी की रचना रसीली और लटकेदार है पर ज्ञानसारजी ने उनके चंदरास की रास की समालोचना में चार सौ से ऊपर दोहे लिखे हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

खरतरगच्छ वस्तुतः कोई सम्प्रदायवाद नहीं किन्तु वह एक आचार। क्रान्ति थी जिसने जैनशासन को तिरोहित होने से बचा लिया था। शताब्दियों से फैलते हुए शिथिलाचार को हटाने के भागीरथ प्रयत्न में श्री हरिभद्रसूरिजी के चालू किये प्रयत्न को पर्याप्त बल दे कर सफल बनाया। सम्बोधप्रकरणादि ग्रन्थों से उनकी हार्दिक पीड़ा चारुतया आकलन की जा सकती है, श्री वर्द्धमानसूरिजी के नेतृत्व में आचार्य जिनेश्वर और बुद्धिसागर ने गुजरात की राजधानी पाटण में दुर्लभराज की सभा में शास्त्रार्थ द्वारा चत्यवासियों के गढ की नींवें हिलाकर धराशायी कर दिया। उनमें से त्याग वैराग्य सम्पन्न प्रतिभाओं को उपसम्पदा देकर तथा क्षत्रिय, माहेश्वर, ब्राह्मणादि जातियों को भगवान महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह मार्ग में प्रतिबोध देकर सम्मिलित किया। ओसवाल, श्रीमाल, महत्तियाण, प्राग्वाट आदि जातियों की श्रीवृद्धि की। उन उदारचेता महान् आचार्यों ने विशुद्ध जिनोपासना को परिपाटी के लिए विधि-चत्यों का प्रचार किया। फलस्वरूप मन्दिरों में वेश्यानृत्य, पान चर्वण, रात्रि में होने वाले पूजा विधान तथा मठाधीश प्रथा दूर कर सुविहित वस्ती मार्ग का प्रचार किया। श्री अभयदेवसूरि प्रभृति आचार्यों द्वारा आगम साहित्य पर नवाङ्गवृत्तिरचना तथा अन्य दिग्गज विद्वानों द्वारा सभी विषय के सर्वांगीण साहित्य निर्माण द्वारा जो शासन सेवा की वह बेजोड़ थी। वर्तमान गच्छों में सर्व प्राचीन होने से उसकी साहित्य साधना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्य गच्छों में भी महापुरुष उत्पन्न हुए जिससे शासन रूपी वृक्ष की सभी शाखाएँ सरस फलप्रद हुई।

आचार धारा भी निम्नगा नदियों की भाँति देश की राजनतिक, सामाजिक परिस्थियों से प्रभावित होकर आचार शथिल्य का प्रवेश होने पर समय-समय पर क्रियोद्धार द्वारा परिष्कार हुआ। मथेरण-महात्मा जाति का उद्गम उसी का परिणाम था। मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित अमूर्त्तिपूजक संप्रदाय का प्रचार प्रसार भी उसी काल प्रभाव का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परिणाम था। यति-श्रीपूज्यों के शैथिल्यवश सर्वाधिक ह्रास हुआ सुविहित खरतरगच्छ को। राजस्थान स्थली प्रदेश, मेवाड़, पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेशादि में सर्वत्र श्याम घटाएँ व्याप्त हुई पर महान् जैनाचार्यों, क्रियोद्धारक त्यागी वर्ग के प्रभाव से आज श्वेताम्बर सुविहित परम्परा की ह्रासोन्मुखता न्यून हुई, गत दो शताब्दियों में तपागच्छ का उत्कर्ष प्रशंसनीय रहा।

खरतरगच्छ परम्परा की सर्वांगीण सेवाएँ, ज्ञान भण्डारों की स्थापना तीर्थोद्धार आदि के साथ-साथ वे औदार्यपूर्ण कार्य थे जिनका कोई मुकाबला नहीं। श्री जिनप्रभसूरिज़ी ने हर्षपुर गच्छीय मलधारी आचार्य राजशेखर को न्याय के उत्कृष्ट ग्रन्थ श्रीधरकृत न्याय-कन्दली का अध्ययन कराया, वे अपनी न्याय कंदली टीका में उल्लेख करते हैं। रुद्रपल्लीयगच्छ के संघतिलकसूरि को विद्याभ्यास कराके आचार्य पद पर अभिषिक्त किया था। नागेन्द्रगच्छीय मल्लिषेणसूरि को स्याद्वादमंजरी तथा भैरवपद्मावती कल्प की रचना में जिनप्रभसूरिजी ने सहयोग दिया।

जैनेतर ग्रन्थों पर जितनी जैन टीकाएँ बनी, अधिकांश खरतर गच्छ की हैं। अन्य गच्छीय साधुओं को विद्यादान में श्रीमद् देवचंद्रजी महाराज भी इसी प्रकार ज्ञानदान में अग्रणी और गच्छ-सम्प्रदाय के आग्रह रहित थे। कवियण ने लिखा है कि चौरासी गच्छ के साधु इनसे विद्यादान लेने आते किसी को इनकार या प्रमाद नहीं करते क्योंकि विद्यादान से अधिक कोई दान नहीं। तप गच्छ के श्री जिन-विजयजी, उत्तमविजयजी और विवेकविजयजी को बड़े प्रेम पूर्वक महाभाष्य, भगवतीसूत्र, आदि आगम और अनेक प्रकरणादि ग्रन्थों का अभ्यास कराया और शास्त्र वाचन की आज्ञा दी थी। यह जन रासमाला आदि ग्रन्थों से प्रमाणित है खरतरगच्छ विभूषण महान् प्रतापी श्री मोहनलालजी महाराज को दोनों गच्छ वाले अपना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मानते हैं और उनके समुदाय के साधु दोनों गच्छ की शोभा बढ़ाते हैं। उनके प्रशिष्य उ० श्री लब्धिमुनिजी के उदार विद्यादान के सम्बन्ध में स्वयं गुरुदेव लिखते हैं—"चाहे कोइ किसी भी मत के हो, पढावे सब को हर्षित हो १ समय ले चाहे जो जितने, पढे साधु-साध्वी गृही कितने" (सहजानंद सुधा पृ० ३३) विद्यादान देने में तथा मुस्लिम सम्राटों को प्रतिबोध देने में विद्वच्छिरोमणि महान् प्रभावक श्री जिनप्रभसूरिजी महाराज का नाम सर्वोपरि है। सूर, कबीर और मीरां आदि की भाँति पदों का निर्माण सर्व प्राचीन खरतरगच्छ में ही मिलेगा। तीर्थंकर भक्ति में भी चौबीसी आदि स्तवन साहित्य एवं सज्झाय आदि में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। आनंदघन, ज्ञानसार, चिदानंद बहुत्तरी आदि पदों की परम्परा भी खरतरगच्छ में ही प्रचलित थी जिनरंगसूरि बहुतरी में ७२ पद्य हैं। सुकवि बनारसीदास भी खरतरगच्छीय ही थे जिनके दिगम्बर आध्यात्मिक ग्रन्थों से प्रभावित होकर दिगम्बर में तेरापंथ धारा चल निकली। वे जौनपुर से आगरा आये और वह धारा मुलतान तक जा पहुँची वहाँ के खरतरगच्छीय श्रावकगण भी उसी अध्यात्म रस प्रवाह में सराबोर हो गये। वहाँ चातुर्मास करने वाले सभी मुनिजन आध्यात्मिक साहित्य निर्माण करने लगे श्री धर्ममन्दिरजी ने सं० १७२५ में पाटण में मुनिपति चरित्र रच कर मुलतान के चौमासों में दयादीपिका, प्रबोध चिंतामणि—मोह विवेक रास, परमात्मप्रकाश चौपाई आत्मपद प्रकाश आदि रचनाएं सं० १७४०-४२ में निर्मित की है। सुमतिरंगजी का प्रबोध-चिन्तामणि रास-ज्ञानकला चौपाई की भी सं० १७२२ में मुलतान में रचना की है। रंगविलास कृत अध्यात्म कल्पद्रुम रास सं० १७७७ में रचित है। इन सभी कृतियों में वहां के नवलखा भणशाली, संखवाल आदि श्रावकों का नामोल्लेख है श्रीमद् देवचंद्रजी महाराज का प्रचुर आध्यात्मिक साहित्य है जो मरोट-मुलतान आदि से प्रारंभ हुआ है। उनकी आगमसार, द्रव्य प्रकाश आदि अनेक रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

खरतरगच्छ के जिनहर्षगणि भी पंच महाव्रत धारी थे वे भी आनंदघनजी-सत्यविजयजी के समकालीन थे, गुजरात में अधिक विचरे और स्वर्गवास भी पाटण में हुआ। समयसुन्दरोपाध्याय और उनकी शिष्य परम्परा में विनयचंद्र कवि भी अहमदाबाद में विचरे थे। समकालीन विद्वानों में जिनहर्षजी आदि के अतिरिक्त समयसुन्दर, हर्षनंदन, जिनराजसूरि, गुणविनय, सहजकीर्ति श्रीवल्लभ, जयरंग, लक्ष्मीवल्लभ, आदि का नाम भूल कर की बुद्धिसागरसूरिजी ने नहीं लिखा है। जब कि जैनेतर समकालीन व्यक्तियों के नाम दिए हैं। आनंदघनजी के चौबीसी, बहुत्तरी के संबंध में हजारों पृष्ठ इस शताब्दी में प्रकाशित हुए पर उनके सम्बन्ध में जो अभिव्यक्ति हुई वह यह कि जो भी महापुरुष हुए वे गुजरात सोरठ और तपागच्छ में ही हुए हैं। इस हठाग्रह के कारण असत्य कल्पनाएं और गलत धारणाओं को परम्परा ही चल पड़ी। समयसुन्दरजी, देवचंदजी, आनंदघनजी आदि के सम्बन्ध में यही बातें हैं उनके राजस्थान-मारवाड़ के होते हुए भी जब तक ऐतिहासिक प्रमाण न मिले गुजरात के लिखते गए। जब साचोर, बीकानेर और मेड़ता के प्रमाण सामने आ गए तब उन्हें सत्य ग्रहण आवश्यक हो गया।

उपनाम रखने की परम्परा हरिभद्रसूरिजी से चली आती है उन्होंने अपनी कृतियों में "भव विरह" शब्द का प्रयोग किया है। श्री उद्योतनसूरि ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'कुवलय माला' में अपना उपनाम "दाक्षिण्य चिह्न" लिखा है। श्रीजिनकुशलसूरिजी के शिष्य विनयप्रभोध्याय ने बोहिलाभ/बोधिलाभ शब्द प्रयुक्त किया है। लक्ष्मीवल्लभ ने 'राज कवि' और जिनहर्षगणि ने अनेकशः "जसराज" नाम भी प्रयोग किया है। श्री आनंदघनजी की दीक्षा नाम लाभानंद था पर उन्हें जब आत्मानुभूति की अवस्था घनीभूत हो गई तब अपना योग नाम "आनंदघन" रखा है और एक आध कृति के अतिरिक्त इसी नाम का प्रयोग किया है। कपूरचंदजी ने अपना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम "चिदानन्द" प्रसिद्ध किया और उनके गुरु भाई ने अपना नाम ज्ञानानंद प्रसिद्ध किया। दूसरे चिदानंदजी (फकीरचंद चैतन्य-सागर) ने भी पावापुरी में 'चिदानंद' नाम पाकर उसी का उपयोग किया। वर्त्तमान के सर्वोच्च महापुरुष श्री भद्रमुनिजी ने भी आत्मा की उस घनीभूत अवस्था में पहुँचते अपना नाम छोड़ कर सहजानंदघन असंप्रदायी नाम प्रसिद्ध किया। यह प्रथा खरतरगच्छ में ही पायी जाती है न कि तपागच्छ में। यह भी आनंदघनजी खरतरगच्छ में दीक्षित होने का प्रमाण है।

महापुरुष तपागच्छ में ही हुए इस हठाग्रह के कारण जो तपागच्छ की उत्पत्ति से पूर्व हो गए उन्हें भी अन्य गच्छ में होना स्वीकार्य नहीं। कदाग्रही धर्मसागरोपाध्याय जैसे विद्वान ने नवाङ्गी वृत्तिकारक श्री अभयदेवसूरिजी को भी खरतरगच्छ परंपरा से अलग करने का असफल दुराग्रह किया। अभी संवेगरंगशाला के (मूल) पत्राकार संस्करण पर भी उन्हें तपागच्छीय लिखा। श्री जिनकुशलसूरिजी के शिष्य विनय-प्रभोपाध्याय की रचना नरवर्मचरित्र में प्रशस्ति ही प्रकाशित नहीं की जो कि सं० १४११-१२ में खंभात में रचित है इन्हीं की अतिप्रसिद्ध रचना गौतमरास का रचयिता उदयवंत या विजयभद्र लिख कर भ्रामकता पैदा की है रासकीगाथा ४३ में स्पष्टतः "विणयपहु उवज्झाय थुणिज्जई" द्वारा विनयप्रभोपाध्याय का उल्लेख है। सं० १०७० में दिगम्बराचार्य अमितगति रचित धर्मपरीक्षा ग्रन्थ जो १९४१ पद्यों में है—उसके २१४ पद्यों में हेर फेर कर करके १४७४ पद्यों में १२५० पद्य ज्यों के त्यों नकल करने का जघन्य कार्य किया है फिर भी उसमें अनेक बातें दिगम्बर मान्यता की रह गई है, उस ग्रन्थ को धर्मसागरोपाध्याय के शिष्य पद्मसागरजी ने अपनी कृति गर्व पूर्वक बतलाई है गुरु धर्म-सागर ने प्रवचन परीक्षा बनाई और मैंने धर्मपरीक्षा रची। शत्रुंजय तलहटी स्थित सतीवाव जो बीकानेर के सेठ सतीदास द्वारा सं० १६५७ में बनाई गई थी उसे सभी इतिहासों में अहमदाबाद के सेठ शांतिदास

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कारित लिखा है, मैंने ४५ वर्ष पूर्व शिलालेख भी प्रकाशित किया पर संशोधन अद्यावधि न हुआ। आनंदजी कल्याणजी की पेढी की स्थापना श्री देवचंद्रजी महाराज द्वारा हुई इस विषय में मेरे पर्याप्त लिखने पर भी रतिलाल दीपचंद देसाई ने पेढी के इतिहास में संशोधन नहीं किया। शत्रुंजयमहात्म्यकर्त्ता धनेश्वरसूरि का तपागच्छीय लिखना कहां तक उचित है वे 'चार सतोतरे हुआ धनेश्वरसूरि' पाचवींशताब्दी के माने जाते हैं और तपाच्छ सं० १२८५—तेरहवींशती में हुआ है। पद्मसागरसूरिजी ने अपने प्रवचन में समयसुन्दरजी को हीरविजयसूरि शिष्य बतलाया है।

यह सब प्रसंगोपात लिखने के पश्चात् अब श्री मोतीचंद गिरधर कापडिया का श्री आनंदघनजी ना पदो हाथ में लेता हूँ। इसमें श्री चिदानंदजी का नाम कपूरचंद्र के स्थान में कपूरविजय अनेकशः लिखा है। आनंदघन चौबीसी के २२ वें स्तवन में शंका की है जो अनुचित है। पृ० ७८ में ज्ञानविमलसूरि के परिचय में खरतरगच्छीय कवि ज्ञानानंदजी कृत ज्ञानविलास और संयमतरंग नामक पदसंग्रहों को ज्ञानविमलसूरि की रचना लिखी है। आगे चलकर पृ० १०३ में आनंदघनजी के समकालीन-ज्ञानविमलसूरिजी की उपर्युक्त दोनों पदसंग्रह रचनाएँ बताते हुए पूरा, पद प्रकाशित किया है जिसमें "निधिसंयम ज्ञानानंद अनुभव" शब्दों द्वारा अपने गुरु व दादागुरु का नाम "निधिचारित्र" और अपना नाम ज्ञानानंद स्पष्ट बतलाया है पृ० ५३३ में फिर ज्ञान-विलास को ज्ञानविमलसूरि कृत बतलाते हुए उसमें विहाग राग का एक पद उद्धृत किया है जिसकी अंतिम गाथा इस प्रकार है—

इन कारण जगमत पख छांडी, निधिचारित्र लहाय।
ज्ञानानंद निज भावे निरखत, जग पाखंड लहाय ॥५॥

चिदानंदजी (कपूरचंद) और ज्ञानानंदजी (प्रेमचंद) दोनों खरतरगच्छ परम्परा में होते हुए इन्हें गलत समझा और गलत परिचय

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दिया है, अतः इनकी गुरुपरंपरा तथा विस्तृत परिचय यहाँ देना आवश्यक समझकर देता हूँ ।

चिदानंद ग्रन्थावली में मैंने उनकी जीवनी-प्रस्तावना में जो उनका विस्तृत परिचय दिया है तदनुसार इस प्रकार है। उनकी रचनाओं का भी विवरण वहाँ देखना चाहिए ।

अकबर प्रतिबोधक श्री जिनचन्द्रसूरि-श्री जिनसिंहसूरि के पट्टधर

श्री जिनराजसूरि की शिष्य परंपरामें	आचार्य परंपरामें
उपाध्याय रामविजय	जिनरंगसूरि
उ० पद्महर्ष	जिनचन्द्रसूरि
वा० सुखनंदन	जिनविमलसूरि
वा० कनकसागर	जिनललितसूरि
उ० महिमतिलक	जिनअक्षयसूरि
चित्रलब्धिकुमार	जिनचन्द्रसूरि
उ० नवनिधि (नढाजी)	जिननन्दीवर्द्धनसूरि
भाग्यनंदि चारित्रनंदि (चुन्नीजी)	जिनजयशेखरसूरि
कपूरचन्द (कल्याणचारित्र) प्रेमचन्द (प्रेमचारित्र)	जिनकल्याणसूरि
प्रसिद्धयोगनाम चिदानंद प्रसिद्ध योगनाम ज्ञानानंद	

यह परम्परा जिनरंगसूरि शाखा, लखनऊ की आज्ञानुयायी थी । गिरनार दादावाड़ी में चरणपादुकाएँ हैं तथा पहाड़ पर प्रेमचन्दजी की गुफा व सम्मेतशिखरजी में चिदानंदजी की गुफा है। पावापुरी में जिस कोठरी में चिदानंद कपूरचंदजी ने ध्यान किया था। पुजारी सोवन पांडे के बतलाने पर उसी स्थान में १० दिन ध्यान कर फकीरचंदजी ने चिदानंद (द्वितीय) नाम पाया था ।

अब श्री आनंदघनजी महाराज की रचनाओं पर अद्यावधि जिन विद्वानों ने विवेचन प्रकाशन किया, यथाज्ञात यहाँ लिखा जाता है ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१. आनंदघन पद संग्रह भावार्थ श्रीमद् बुद्धिसागरसूरि द्वि० २०१० मू० १२-८ प्र० अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल बंबई (मणिलाल मो० पादराकर मंत्री)

२. श्री आनंदघनजी ना पदो भाग १ मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया द्वि० २०१२ मू० ७-८
प्र० श्री महावीर विद्यालय ग्वालियाटेंकरोड बंबई—२६

३. श्री आनंदघनजी ना पदो भाग २ स्व० मोतीचंद गिरधर कापड़िया २०२० मू० १० सं० रतिलाल दीपचंद देसाई प्र० उपरोक्त

४. आनंदघन-ग्रन्थावली उमरावचंद जैन जरगड़ सं० महताबचंद खारेड़ प्र० २०३१ मू० १० प्र० विजयचंद जरगड़ जौहरीबजार जयपुर

५. अध्यात्म दर्शन (आनंदघन चौवीसी तथा पद मग्न भाष्य सह मुनि नेमिचंद्र प्र० १९७६
मू० १३ प्र० विश्व वात्सल्य प्रकाशन लोहामंडी आगरा—२ उ० प्र०

६. आनंदघन चौवीसी (हिन्दी विवेचन) मुनि श्री रत्नसेनविजयजी प्र० २०४१ मू० २० प्र० पद्म प्रकाशन अहमदाबाद

७. अवधूत श्री आनंदघन चौवीसी भावार्थ सह ले० रायचंद अजाणी प्र० १९८७ पद ११० मूल

प्र० माणेकजो वेलजी खोना चेरीटेवल फाउंडेशन ३० तिलकरोड घाटकोपर संपादको—नवीन धरमशी लक्ष्मीचंद महेश्वरी बंबई ७७

८. आनंदघन का रहस्यवाद ले०—साध्वी सुदर्शनाश्री प्र० १९८४ मू० ४० सं० डा० सागरमल जैन प्र० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी—५

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

९. आनंदघन चौवीसी प्रमोदायुक्त प्रभुदास बेचरदास पारेख द्वि० वृत्ति सन् १९५७ पृ० ४८० प्र० श्री जैन श्रेयस्कर मंडल म्हेसाणा

१०. आनंदघन चौवीसी विवे-मोतीचंद गिरधर कापड़िया सन् १९७० मूल्य ८ रुपये प्र० श्री महावीर जैन विद्यालय बंबई। इसमें ज्ञानविमलसूरि के टबा का आधुनिक भाषा में विवेचन है।

११. आनंदघन एक अध्ययन डा०—कुमारपाल देसाइ प्र० सन् १९८० प्र० आदर्श प्रकाशन जुम्मा मस्जिद सामे अहमदाबाद ३८०००१

१२. प्रशान्त वाहिता (पूर्वार्द्ध) द्वितीया वृत्ति, विवेचनकार श्री विजय भवनरत्नसूरीश्वर पृ० ५२४ इस पुस्तक में आनंदघनजी के तपागच्छ या खरतरगच्छ में दीक्षा लेने के विवाद से सर्वथा अलग रखा है।

इनके अतिरिक्त मुनि संतबालजी ने आनंदघन चौवीसी का विवेचन भी लिखा जो प्रकाशित नहीं हुआ। श्री गब्बूलालजी का गुजराती अनुवाद मंगलजी उधवजो ने सं० २००० में प्रकाशित किया। जीवनी के संबन्ध में धीरजलाल टोकरसी शाह ने बाल ग्रन्थावली में तथा वसन्तलाल कान्तिलाल ने स्वतन्त्र पुस्तिका लिखी थी।

डा० भगवानदास ने दूसरे स्तवन का विवेचन "दिव्य जिन मार्ग दर्शन" एवं तीसरे का विवेचन "प्रभु सेवानी प्रथम भूमिका" नाम रखा और दोनों व परिशिष्ट में श्रीमद्जी का साथ में देकर ३३२ पृष्ठों में प्रकाशित किया है।

आगमप्रज्ञ मुनिराज श्री जम्बूविजयजी महाराज ने आनंदघन चौवीसी के मूल पाठ शुद्धि के लिए पाँच-सात प्रतियों से पाठान्तर लेकर प्रकाशन प्रारंभ किया और उसका प्रूफ भी हमारे पास भेजा था पर न मालूम वह कार्य उन्होंने अधूरा ही क्यों छोड़ दिया, अन्यथा शुद्ध और प्राचीन पाठ का निर्णय प्रकाश में आता। इस विषय में

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिक जानने के लिए आनंदघन ग्रन्थावली में श्री अगरचंदजी नाहटा का प्रासंगिक वक्तव्य देखना चाहिए।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ५ से "आनन्दघन का रहस्यवाद" नामक साध्वी श्री सुदर्शनाश्री जी का शोध प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है जिसमें द्वितीय अध्याय "व्यक्तित्व एवं कृतित्व में लिखा है कि श्री अगरचन्द नाहटा का (आनन्दघन ग्रन्थावली पृ० २१-२२ में) कथन है कि आनन्दघन मूलतः खरतरगच्छ में दीक्षित हुए और इसके लिए उनके द्वारा तीन प्रमाण दिये गए हैं।

प्रथम तर्क यह दिया गया है कि खरतरगच्छ के समर्थ आचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी ने बुद्धिसागरसूरिजी को कहा था कि वे मूलतः खरतरगच्छ में दीक्षित हुए हैं। लेकिन यह तर्क ठोस नहीं, क्योंकि इसके लिए आचार्य कृपाचन्द्रसूरि ने कोई प्रामाणिक आधार प्रस्तुत नहीं किया है। आचार्य जिनकृपाचन्द्रसूरि द्वारा आचार्य बुद्धिसागरसूरि को बताये जाने के बावजूद स्वयं आचार्य बुद्धिसागरसूरि ने लिखा है कि आनन्दघन तपागच्छ में दीक्षित हुए थे और उनका नाम लाभानंद था।

इसके सम्बन्ध में मेरा यह कहना है कि जब कृपाचन्दसूरिजी से यह ज्ञात हो गया कि आनन्दघनजी का उपाश्रय और स्तूप भी मेड़ता में है और आनन्दघनजी का उपाश्रय खरतरगच्छ का है एवं उनकी परम्परा के यतिजन हाल मौजूद हैं तो यह बुद्धिसागरसूरिजी का कर्त्तव्य था कि वे मेड़ता में खोज कराते कृपाचन्द्रसूरि तो कीर्तिरत्नसूरि शाखा के परम्परागत यति समुदाय में से थे जिनके सभी यतिजनों की जानकारी थी, अवश्य ही वे क्रियोद्धार करने के पश्चात् वर्षों बीकानेर (राजस्थान) नहीं गये। वे जैनागम न्याय, ज्योतिष आदि सभी विषयों के प्रकाण्ड विद्वान थे पर बुद्धिसागरसूरिजी की भाँति शिलालेख और इतिहास शोध का कार्य उन्होंने नहीं किया था। साधारणतया जानकारी दे दी इसे अमान्यकर अपने पूर्वाग्रह वश अपनी धारणानुसार

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धिसागरसूरिजी ने मारवाड़ के न मान कर गुजरात-सौराष्ट्र का मान लिया। किन्तु कापड़ियाजी ने अपने ग्रन्थ में उन्हें गुजरात सौराष्ट्र का न मान्यकर भाषा शास्त्र के आधार पर इस सम्बन्ध में पर्याप्त लम्बा विवेचन किया है।

पन्यास गम्भीरविजयजी कापड़ियाजी के गुरु थे और उन्हीं से अर्थ विवेचन करने में पर्याप्त सहाय्य मिला था अतः उनके पूर्वाग्रह वश बुन्देलखण्ड के किसी नगर में आनन्दघनजी का जन्म स्वीकार कर लिया और उनके अनुकरण में रत्नसेनविजयजी आदि ने भी वही बात लिख दी।

आनन्दघनजी का दीक्षा नाम लाभानन्द था यह देवचन्दजी, ज्ञानसारजी आदि सभी को स्वीकार्य है पर बुद्धिसागरसूरिजी और कापड़ियाजी ने कहीं लाभविजय और लाभानन्दी लिखा है जो गलत है। शोध प्रबन्ध में आगे लिखा है श्री अगरचन्द नाहटा दूसरा तर्क यह देते हैं कि आनन्दघन का मूलनाम लाभानन्द या लाभानन्द में जो 'आनन्द' नन्दी (नामान्त पद) हे वह खरतरगच्छीय चौरासी नन्दियों में पाया जाता है। उनका यह भी कथन है कि उन्नीसवीं शती में खरतरगच्छ में लाभानन्द नामक एक अन्य साधु हो चुके हैं। आशय यह कि खरतरगच्छ के अतिरिक्त अन्यगच्छ में लाभानन्द नाम रखने की परम्परा नहीं रही है। इसी आधार पर उन्होंने आनन्दघन को खरतरगच्छीय परम्परा का सिद्ध किया है। किन्तु उनका यह तर्क ऐतिहासिक दृष्टि से समुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'आनन्द' नामान्त पद का प्रयोग तपागच्छ में भी हुआ है। जैसे चिदानन्द, विजयानन्द आदि।

यहाँ मेरा नम्रमत यह है कि नामान्त पद तपगच्छ की नन्दियों में भी है पर प्रयोग जिस गच्छ में अधिक हुआ हो जैसे 'विजय' नामान्त पद दोनों गच्छों में होते हुए भी तपागच्छ में अधिक प्रचलित हो गया।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ जो चिदानन्द, विजयानन्द का उदाहरण दिया वह सही नहीं है चिदानन्दजी खरतरगच्छ के थे उनका नाम कपूरचन्द और दीक्षानाम कल्याणचारित्र था चिदानंद तो आनन्दघनजी की तरह योगनाम/उपनाम है। विजयानन्द नामान्त पद नहीं किन्तु विजयानन्दसूरि का दीक्षानाम आनन्दविजय था। तपगच्छ में आचार्य पद होने पर 'विजय' नामान्त आगे कर देते हैं अतः दोनों उदाहरण निरर्थक है। उपनाम भी चिदानंद, ज्ञानानंद, दूसरे चिदानंद, सहजानंद आदि खरतरगच्छ परम्परा में ही है। उपनाम परम्परा का तपागच्छ में एक भी उदाहरण नहीं मिलता। पर तपगच्छ परम्परा का यह आग्रह रहा है कि जो भी महापुरुष हुए वे तपगच्छ में और गुजरात में हुए। भले ही वे राजस्थान आदि में जन्मे हों या अन्य गच्छ में हुए हों। ज्ञानानंदजी को जो चिदानंद जी के गुरु भ्राता थे, चिदानंदजी जो सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थे कापड़ियाजी ने इन्हें तपागच्छ का मान लिया और ज्ञानानंदजी की कृतियाँ ज्ञानविलास और संयमतरंग को ज्ञानविमलसूरि (१६९४-१७८२) की रचना मान कर उनके पदों के उद्धरण दिये। इन दोनों का परिचय आगे पृ० २७ में दे चुका हूँ।

तीसरा तर्क वे यह देते हैं कि मेड़ता से उपाध्याय पुण्यकलश मुनि जयरंग, चारित्रचंद आदि द्वारा एक पत्र सूरत में विराजित खरतरगच्छ के पूज्य श्री जिनचंद्रसूरि को भेजा गया। उसमें आनंदघनजी के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

"पं० सुगनचंद्र अष्टसहस्री लाभानंद आगइ भणइ छइ। अद्धरइ टाणइ भणी। घणुं खुसी हुई भणावइ छइ"।

यह पत्र नाहटाजी को आगम प्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी के पास देखने को मिला था। मुनि पुण्यविजयजी के समस्त पत्रों का संग्रह अहमदाबाद के श्रीलालभाई दलपत भाई (ला० द० भा०) संस्कृति विद्यामन्दिर में सुरक्षित हैं, लेकिन नाहटा द्वारा उल्लिखित कोई पत्र

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उसमें नहीं है।" पत्र न मिलने पर श्री अगरचंद नाहटा जैसे विद्वान के लिखे प्रमाण को चुनौती नहीं दी ज़ा सकती। आज तक हमारे पचासों ग्रन्थों और छ हजार निबन्ध/लेखों को कोई अप्रमाणित नहीं कर सका। काकाजी श्री अगरचंदजी ने जेसलमेर में उनके पास देखा था। खाली अवतरण दिया है नकल की या नहीं, अब वे रहे नहीं अतः हमारे संग्रह—समुद्र से पता लगाना असंभव है।

श्री पुण्यविजयजी महाराज वहां से बीकानेर पधारे थे और उपाध्याय विनयसागरजी (अब महोपाध्याय) को उनके साथ अभ्यास हेतु भेजा गया था वे उनके साथ काफी रहे थे। मुनिश्री ने वह पत्र विनयसागरजी को दे दिया था जो उन्होंने अपने संग्रह—कोटा में रखा था। अभी उनके पर्यूषण पर पधारने पर वह पत्र उनके संग्रह में ज्ञात हुआ, पर अभी खोजने पर नहीं मिला तो भविष्य में खोज कर मिलने पर प्रकाश डाला जा सकेगा। पर यहाँ पर इस अवतरण पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयत्न करता हूँ।

श्री जिनचंद्रसूरि—इन्हें सूरत चौमासे में मेड़ता से पुण्यकलशोपाध्याय, जयरंग, चारित्रचंद आदि ने पत्र भेजा था। ये गणधर चोपड़ा आसकरण-सुपियारदेवी के पुत्र थे इनका नाम हेमराज था सं० १७०७ वैशाख शुक्ल ३ को श्री जिनरत्नसूरि ने जेसलमेर में दीक्षित कर हर्षलाभ नाम दिया था। सं० १७११ में भादव बदि १० को आचार्य पद स्थापना नाहटा जयमल तेजसी की माता कस्तूर बाई कृत महोत्सव पूर्वक राजनगर में हुई, जिनचंदसूरि नाम प्रसिद्ध हुआ। सं० १७६३ सूरत में स्वर्गवास हुआ। अतः यह पत्र सं० १७११ में या उसके पश्चात् किस संवत् मिती में दिया था, मिलने पर ज्ञात होगा। इन्होंने अपने शासन काल में ३९ नंदियों में प्रचुर दीक्षाएं दी थी। एवं साध्वाचार में शिथिलता न आ सके इसके लिए नियम प्रसारित किए थे जो हमारे संग्रह में है। जोधपुर के शाह मनोहरदास के संघ सह शत्रुंजय यात्रा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की और उनके द्वारा मंडोवर में निर्मापित चैत्य शृंगार-२४ तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा की।

उ० पुण्यकलश—अकबर प्रतिबोधक श्री जिनचंद्रसूरिजी ने ४४ नन्दियों में मुनियों को दीक्षा दी थी जिनमें यह (कलश) अंतिम नंदी है। उनका स्वर्गवास सं० १६७० बीलाडा में हुआ था। उस से पूर्व ये दीक्षित हो चुके थे। श्री जिनभद्रसूरि शिष्य परम्परा में समयध्वज ज्ञानमंदिर—गुणशेखर नयरंग शि० धर्ममन्दिर वाचक के ये शिष्य थे। सं० १६८९ में इन्होंने बाड़मेर में साध्वी ज्ञानसिद्धि-धनसिद्धि के लिए नवतत्व स्तबक लिखा जो जैन विद्याशाला, अहमदाबाद में है। श्री जिनचंद्रसूरिजी ने सं० १७११ चैत्री पूनम के दिन राजनगर में इनके कई प्रशिष्यों को दीक्षा दी—

पूर्वनाम	दीक्षानाम	
पं० कल्ला	सकलचंद	
पं० चांपा	चारित्रचंद	सं० १७२३ उत्तराध्ययन दीपिका व दशवैकालिक स्तबक लिखा
पं० ताल्हा	तिलकचंद	
पं० गोदा	सुगुणचंद	इन्होंने लाभानंद (आनंदघन) के पास मेड़ता में अष्टसहस्री का अध्ययन किया एवं सं० १७३६ जेसलमेर में ध्यानशतक बालावबोध रचा। जो यति सूयंमल संग्रह में है।

मो० द० देसाई महोदय ने शांतिहर्ष-जिनहर्ष को जिनचंद्रसूरि की परम्परा में लिखा है वे ६५ वें पाट के नहीं थे क्योंकि इन से पहले ही वे दीक्षित थे और कृतियां भी मिलती है तो जैनरासमाला पृ० ४४ में उनका परिचय देना गलत है, वे क्षेम शाखा के थे। और ६५ वें पाट जिनचंद्रसूरि के आज्ञानुवर्ती थे।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सुगुणचंद के शिष्य हेमविजय तथा चारित्रचंद्र के शिष्य जयविजय की दीक्षा सं० १७५५ माघ बदि ६ को सादड़ी में हुई थी। श्री जयरंग (जैतसी) आदि उ० पुण्यकलश के शिष्यों की दीक्षा पहले हो चुकी थी। सं० १७०७ से ही दीक्षा नन्दी सूची उपलब्ध है। जयरंग की अमरसेन वयरसेन चौ० सं० १७०० दीवाली जेसलमेर एवं सं० १७२१ का कयवन्ना रास बीकानेर में रचित है। दस श्रावकों के गीत एवं दश-वैकालिक सर्व अध्ययन गीत सं० १७०७ में रचित है।

अब खरतरगच्छ में 'आनंद' नामान्त में दीक्षित यति-मुनियों की संक्षिप्त सूची दी जा रही है। चूरु की दादावाड़ी में मुनि ज्ञानानंदजी के चरण है तथा बीकानेर बेंदों के महावीर जिनालय में सं० १८७९ चैत्री पूनम को मुनि ज्ञानानंद प्रतिष्ठित दुरितारि विजययंत्र है। ये उपाध्याय श्री क्षमाकल्याणजी के शिष्य थे। यन्त्र पं० महिमाभक्ति लिखित है। बीकानेर में उनकी परम्परा में धर्मानंदजी का उपाश्रय कहलाता है। क्षेम शाखा के उ० सदानंद शिष्य सौभाग्यचंद्र लिखित जिनहर्ष कृत श्रीपाल रास की प्रति कच्छ के मुनराबंदर में लिखी प्राप्त है (जैन गूर्जरकविओ पृ० ८७)

हमें जो दफ्तर प्राप्त है उसमें पूर्व नाम गुरुनाम आदि सब उल्लेख है। लेख विस्तारभय से केवल नाम सूची देता हूँ। सं० १७२८ पोष बदि ७ बीकानेर में 'आनंद' नामान्त जिनचंद्रसूरि द्वारा दीक्षित—

१ सदानंद, २ सुखानंद, ३ गजानंद, ४ नयनानंद, ५ महिमानंद, ६ युक्तानंद। सं० १८०२ जीर्ण दुर्ग (जूनागढ) में दीक्षित—(वै० सु० ४)

१ सदानंद, २ हर्षानंद, ३ दयानंद, ४ ज्ञानानंद ५ क्षमानंद ६ महिमानंद ७ सुखानंद। सं० १८५६ मा० सु० १३ सूरत में जिनहर्षसूरि द्वारा दीक्षित—

१ हेमानंद २ भाग्यानंद ३ दयानंद ४ उदयानंद ५ रत्नानंद ६ गुणानंद ७ ज्ञानानंद ८ राजानंद ९ क्षमानंद १० अभयानंद

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

११ लाभानंद १२ सहजानंद १३ विद्यानंद १४ अमृतानंद १५ क्षेमानंद १६ दर्शनानंद १७ गजानंद १८ विजयानंद १९ महिमानंद २० ज्ञानानंद २१ सुगुणानंद २२ भाग्यानंद २३ कमलानंद २४ नित्यानंद २५ जयानंद २६ क्षेमानंद।

सं० १९४३ आश्विन शु० १० जयपुर में—१ महिमानंद २ कृष्णानंद ३ रत्नानंद ४ ज्ञानानंद

सं० १९४५ जयपुर में १ पूर्णानंद। सं० १९४६ १ गजानंद। सं० १९५२ रतलाम में १ सदानंद २ रामानंद ३ देवानंद ४ कनकानंद ५ दयानंद ६ सत्यानंद ७ क्षमानंद ८ मेघानंद इनके शिष्यादि भिन्ननंदी में होने से नाम नहीं दिए हैं। लगभग ५० नाम हो गए हैं।

साहित्यकार/ग्रन्थकारों का नाम देने से हेमानंद, विनयानंद, सदानंद, चिदानंद आदि अनेक हैं और उनकी रचनाएं भी हैं। प्राचीन साहित्य में खोजने पर और भी बहुत मिलेंगे।

ऊपर महाप्रबन्ध गत तीनों बातों का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। आगे लिखा गया है कि दीक्षा नाम लाभानंद था लिखा सो यह नाम किसे अस्वीकार है। खरतरगच्छ साहित्य में देवचंद्रजी ज्ञानसारजी आदि सभी को यह पूर्व नाम स्वीकार है। [श्री विजयानंदसूरि (आत्मारामजी) ने जो लिखा है कि सत्यविजयजी ने क्रियोद्धार किया और वर्षों तक आनंदघनजी के साथ वनवास में रहे लिखना सर्वथा अप्रामाणिक है। उनके निर्वाण के एक मास बाद बने जिनहर्ष कवि कृत रास में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। यह सब बाद की कल्पना सृष्टि है। आनंदघनजी की कृतियों में एक पद तो 'लाभानंद' नाम से भी संप्राप्त है।

श्री मोतीचंद कापड़िया के मतानुसार सत्यविजयजी ने पन्यास पद के बाद ही क्रियोद्धार किया था। पंन्यास पद उन्हें सं० १७२९ में मिला था। इधर सं० १७३१ में मेड़ता में श्री आनंदघनजी का निधन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हो गया था तो वे उनके साथ में कहाँ विचरे ? श्री लल्लु भाई कर्मचंद स्वयं इसी ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति के निवेदन पृ० १९ में (२) 'तप गच्छ मां दीक्षित यथा हता' के उल्लेख के सम्बन्ध में शंकास्पद थे। इसी कारण फुटनोट में "आ माटे वधु तपासनी जरूर जणाय छे" लिखा है। इसका आशय यही है कि बुद्धिसागरसूरिजी के अपने विचारों को बिना पृथक् करण किये ही लिख दिया करते थे जिस की आलोचना का एक अंश ऊपर उद्धृत कर ही चुका हूँ।

उपाध्याय यशोविजयजी गुणग्राहक थे। उन्होंने अष्टपदी रचना की और उनका आनंदघनजी के साथ जो प्रेम सम्बन्ध था, वह हमें पूर्णतः मान्य है। इसके अतिरिक्त न तो ज्ञानविमलसूरि कभी आनंद-घनजी से मिले और न कोई अन्य तपगच्छ के विद्वानों से आनंदघनजी का सम्पर्क ही हुआ। बुद्धिसागरसूरिजी ने जो भी सारी मनगढन्त बातें एवं संगत असंगत लोकोक्तियाँ को स्थान देकर जीवन चरित्र के प्रति न्याय दृष्टि नहीं रखी है। अध्यात्म, द्रव्याणुयोग की शास्त्र मान्यताएं उनके अधिकार पूर्ण विषय थे, उसी में उन्हें सीमित रहना था। जहाँ उनकी जीवनी की बातें प्रामाणिक रूप से कोई नहीं मिलती वहाँ पाँखें फैला कर उडान करना समीचीन नहीं लगता।

सत्यविजय निर्वाण रास में 'सवालख देश का लाडलुं गाँव लिखा है, उसे मालव में मानना देसाईजी की मूल है। सवालख देश नागौर के आस पास का प्रदेश है, अतः वर्त्तमान लाडणुं ही लाडलुं है जो नागोर परगने में है और सवालख देश का यह प्राचीन नगर है। रास में सेठ वीरचंद-वीरमदे के प्रभु शिवराज को "एकोपिणि सहसा समु जे राखे घर नु सूत्र" लिखकर "एक ही हजार जसा" इकलौता पुत्र लिखा है। आनंदघनजी को सत्यविजयजो का लघु बन्धु लिखना ढाई सौ तीन सौ वर्ष बाद की कल्पना सृष्टि है अतः किसी भी प्रकार मान्य नहीं हो सकती।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आनंदघनजी के देहोत्सर्ग के सम्बन्ध में 'निजानंद चरित्र' के उल्लेख पर शंका नहीं की जा सकती। पक्ष-विपक्ष की बातें, शास्त्रार्थ की बातों में हमेशा मतभेद और विपक्षी को हेय दृष्टि से प्रदर्शित करना असंभव नहीं, पर देहोत्सर्ग की बात विश्वसनीय ही है, क्योंकि उस समय कोई दूसरे लाभानंदजी नहीं थे। वे वृद्धावस्था में मेडता में रहने लगे इसमें दो मत नहीं है। जहाँ उनके जीवन का अधिकांश भाग बीता हो तो परिचय में आने वाले सभी उसी नाम से पहचानते हैं। अतः जो लोग सत्यविजयजी के चिर संग रहने या यशोविजयजी के चिर संग रहने या यशोविजयजी के बाद आनंदघनजी के देहोत्सर्ग की कल्पना करते हैं वे कुछ पूर्वाग्रह ग्रस्त मालूम देते हैं।

निष्पक्ष व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि बिना प्रमाण की बातों को विश्वस्त न मानें और गहराई से विचार करें। खरतरगच्छ की उदारता प्रसिद्ध है। गुणग्राहकता के कारण अन्य गच्छ के महापुरुषों के वर्णन में काव्य, रास, चौपाई, गीत आदि पर्याप्त लिखें। श्रीवल्लभोपाध्याय का विजयदेवसूरि महात्म्य (महाकाव्य) सिद्धसूरिजी के कथन से उपकेश शब्द व्युत्पत्ति, समयसुन्दरोपाध्याय का पुंजा ऋषि रास, भट्टारकत्रय गीत, जिनहर्षगणि कृत सत्यविजय पन्यास रास आदि ग्रन्थ उसी समय के हैं। जैनेतर ग्रन्थों पर खरतरगच्छीय विद्वानों की प्रचुर टीकाएं उपलब्ध है। तपागच्छ में उपाध्याय यशोविजयजी गुणग्राहक और उच्चकोटि के विद्वान थे जिन्होंने आनंदघनजी से सौहार्द पूर्वक मिलकर अष्टपदी की रचना की थी।

खरतरगच्छ की प्राचीन दफ्तर बहियें नहीं मिलतीं। सं० १७०७ से दीक्षा नंदी सूची मिली है, इससे पूर्व की मिल जाती तो समस्या हल हो जाती। आनंदघनजी की दीक्षा सं० १६७० तक तो नहीं हुई थी। श्री जिनचंद्रसूरिजी की स्थापित ४४ नन्दियों में अंतिम नंदी 'कलश' उपरि वर्णित है। उनके पट्टधर श्री जिनसिंहसूरि ४ वर्ष बाद ही मेड़ता में स्वर्ग वासी हो गए। इनके पट्ट पर समर्थ विद्वान भट्टारक श्री जिन-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

राजसूरि और आचार्य पद पर श्री जिनसागरसूरि आरूढ हुए। सं० १६७४ में मेड़ता में ही पट्टोत्सव हुआ। इनका जन्म १६४७, दीक्षा १६५७, वाचक पद १६६७ में हुआ था। तीक्ष्ण बुद्धि वाले होने से बाल्यकाल में ही शास्त्रों के पारंगत हो गए और १३ वर्ष की अवस्था में आगरा में चिन्तामणि तर्कशास्त्र पढ लिया था। मेड़ता के ही अधिवासी आनंदघनजी थे और सं० १६७४ में ही श्री जिनराजसूरिजी के पास सम्पर्क में अधिक आये हों, संभावना की जा सकती है। मेड़ता में चोपड़ा आसकरण ने यह पट्टोत्सव किया था और वहाँ से पहले शत्रुंजया-दितीर्थों का संघ भी निकाला था। सं० १६७७ में शान्तिनाथजिनालय की प्रतिष्ठा भी मेड़ता में कराई थी। अतः उस समय उनकी दीक्षा भी असम्भव नहीं, मेरा अनुमान है उस समय इन्हें सत्संग का सबल संयोग मिला। दीक्षा के अनंतर जिनराजसूरि और समयसुन्दरजी के शिष्य हर्षनंदन के पास इन्होंने (लाभानंद ने) शास्त्राभ्यास किया होगा।

जिनराजसूरि उच्चकोटि के विद्वान थे उन्होंने हिन्दी में बहुत सौ पद रचना की थी। इनके ४१ शिष्य-प्रशिष्य थे। इन्होंने ६ को उपाध्याय पद दिए थे जिनमें उपर्युक्त महोपाध्याय पुण्यकलश भी होंगे। इन सभी बातों का निश्चित समाधान प्राचीन इतिहास एवं अप्राप्त दफ्तर बहियें, जो समाज की असावधानी से लुप्त हो गए। प्राप्त हुए बिना सिलसिलेवार इतिवृत्त लिखा नहीं जा सकता। पर आनंदघनजी खरतरगच्छ में दीक्षित हुए इस में कोई संशय नहीं रह जाता।

श्री जिनचंद्रसूरिजी के शिष्य लालकलश थे जिनके शिष्य ज्ञान-सागर के शिष्य कमलहर्ष लिखित सारस्वत व्याकरण की पुञ्जराजी टीका पत्र १११ श्री पूज्यजी के संग्रह में है। 'कलश' नंदी में दीक्षित प्रशिष्य क्षेमकलश के शि० महिमासागर के शिष्य सुप्रसिद्ध आनंदवर्द्धन सुकवि थे जिनकी चौबीसी, भक्तामर-भाषा, कल्याण मंदिर भाषा, स्तवन पदादि तथा अरहन्नक चौपाई आदि कृतियाँ उपलब्ध हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में उठाये गये प्रश्नों का संक्षिप्त समाधान हो जायगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

योगिराज श्री आनंदघनजी महाराज ने जिनस्तवन बावीसी में तात्विक विषयों का जो निरूपण किया है वह गुरुदेव के प्रस्तुत विवेचना नुसार निम्नोक्त प्रकार है :—

१. पराभक्ति
२. अजितपथ यथाख्यात चारित्र
३. अन्तर्दृष्टि साधना रहस्य
४. सम्प्रदायों में जैन दर्शन का अभाव
५. आत्म समर्पण रहस्य
६. परमात्मा के प्रति अंतरात्मा की पुकार
७. भगवान के विविध नाम रूपों का रहस्य
८. भवान्तर दर्शन और सजीवन मूर्ति के प्रत्यक्ष योग की कामना
९. अनुभव और आगम प्रमाण से मन्दिर और मूर्त्तिपूजा का रहस्य
१०. अनेकान्तवाद तो समन्वयवाद है, संशयवाद नहीं।
११. आध्यात्म रहस्य
१२. आत्मज्ञान की कुंजी
१३. भक्तिमार्ग की प्रधानता और रहस्य
१४. चारित्र का पारमार्थिक रहस्य
१५. धर्म का मर्म
१६. शान्ति का स्वरूप
१७. मन की दुराराध्यता
१८. स्वसमय-परसमय/जड़ चेतन भेद विज्ञान/द्रव्य पर्याय भेद रहस्य
१९. अन्य सभी लोगों से आदर पाने वाले अठारह दोषों का दूर निवारण
२०. विविध आत्म तत्त्व-जिज्ञासा-समाधान
२१. षट दर्शन की विशाल समन्वयात्मक दृष्टि निरूपण
२२. राजिमती उपालंभ मनोभाव और अनुगामित्व

श्रीमद् राजचंद्र जैसे ज्ञानावतार महापुरुष ने भी आनदघन चौवीसी का अर्थ लिखना प्रारम्भ तो किया था पर वह पूर्ण नहीं हो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सका था। वैसे पंडित लालन आदि ने भी किया था ऐसा सुना है पर देखने में नहीं आया। इस युग के मूर्धन्य आत्मद्रष्टा योगीन्द्र युगप्रधान सद्गुरु श्री सहजानंदघनजी महाराज ने अपने प्रवचनों में आनंदघनजी के स्तवनों पर पर्याप्त विवेचन किया था, पर किसी ने उसका टेप-रिकार्ड या लेखन नहीं किया। जब आप बीकानेर उदरामसर धोरा गुफा में थे तब सतरह स्तवनों तक विवेचन लिखा था। काकाजी अगरचंदजी की सतत प्रार्थना/प्रेरणा थी पर अपनी आत्म/साधना में लगे रहने से अवकाश निकाल कर वे लेखन कार्य पूरा न कर सके। उनके चिन्तन में आगे बढने पर उन्हें नई-नई स्फुरणाएं और अनुभूतियाँ होती जिससे आगे का लेखन फीका मालूम होता। उन्होंने हमें एवं अन्य मुमुक्षुओं को पत्रों में इस सम्बन्ध में जो समाचार दिए उनका सारांश यहाँ दे रहा हूँ।

आनन्दघन चौवीसी का विवेचन मैं अपने ढंग से करता जाता हूँ जिसका किसी अन्य कृति से मेल नहीं बैठेगा। मेरी पद्धति अनोखी है, बहुत गहन विचार कर स्वपर प्रेरक ढंग से लिखता हूँ। ऐतिहासिक संशोधन पूर्वक पाठ लेता हूँ जो कि प्रचलित पाठों से कुछ भिन्न पड़-जाएँगे, किन्तु बहुत उपयोगी होंगे। चौदहवें स्तवन का विवेचन ११ फुलिस्केप पृष्ठों में, नौवाँ ९ पृष्ठ जितना हुआ है नौवें में अष्ट द्रव्यों का जो अनुभव क्रम लिखा है वह कहीं पढ़ा नहीं, फिर भी अनुभव गम्य है। मनुष्य देह को जिनालय की तुलना मन्दिर रचना के अनुभव क्रम में चित्रित किया है, मुद्रित होने पर बहुतों को सहायक होगा।

आनंदघन साहित्य विषय में × × जहाँ विचारने बठूं नित्य नयी स्फुरणा होती है। धोरा में लिखे अर्थ अभी की समझ में मामूली लगते हैं जिससे अभी रुकने की प्रवृत्ति हो जाती है। जब तक पूर्ण ज्ञान न हो एक अक्षर भी बोलने में जोखम है। तीर्थंकरादि महापुरुष छद्मस्थ दशा में मौन रहते थे। दूसरे नयानुसार ऐसी प्रवृत्ति से ज्ञान का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षयोपशम बढता है अतः पत्रारूढ करना हानिकारक नहीं, यह भी सत्य है। × × अमुक समय साधना में बीतता है अतः अवकाश कम है, बाकी अरुचि नहीं है।

मेरा बहुत सा समय साधन में बीतता है, अतः लेखन क्रिया में चित्त नहीं लगता। भावना तो बहुत है कि आपका कार्य पूर्ण कर दूँ, किन्तु कर नहीं पाता। विशेष अनुभूतियों को पत्रारूढ करके किंवा व्यक्त करने में दत्त गुरुदेव सम्मत नहीं हैं। उनका कहना है कि बहुत विषम काल है। जीवों की वृत्ति भौतिकता के पीछे घुड़दौड़ कर रही है। अनुभव मार्ग के अधिकारी नहीं से है। अतः अलौकिक बातों को न समझने के कारण अर्थ का अनर्थ होना स्वाभाविक है। इसलिए सब कुछ गुप्त कर दो, समझ कर शमालो।

मैं आजकल बाबा आनंदघन कृत चौवीस जिनस्तवनों का हिन्दी में विवेचन लिख रहा हूँ। इनकी विचार धारा धर्म क्रान्ति और अनुभव बल से अलंकृत है। जैन दर्शन किंवा धर्म की अनुभव-शून्यता के प्रति उनके हृदय में बड़ा भारी दुख रहा है जिसे पदों द्वारा व्यक्त भी किया है जो अनुभवशून्यता दि० श्वे० उभय संप्रदायों में अधिकतर दिख रही है। जैन दर्शन विषयक दिमागी कसरत जोरों से प्रचलित हो रही है पर जैन धर्म विषयक हृदय की कसरत नहींवत् रह गयी है। हृदय की कसरत से तन्दुरुस्ती पाये बिना कोरी दिमागी कसरत अनुभव पथ में प्रवेश नहीं करा पाती, ऐसा कहना अनुचित न होगा।

मुनि श्री आनन्दघनविजयजी (वर्त्तमान में आचार्य श्रीविजय आनन्दघनसूरि महाराज गुरुदेव श्री सहजानन्दघनजी महाराज के परम भक्त और साधनाशील महापुरुष हैं। उनकी शंकाओं का समाधान और साधना मार्ग में आगे बढ़ने के लिए मार्गदर्शन हेतु प्रचुर पत्र व्यवहार हुआ करता था। आनन्दघनजी की जीवनी संबंधी जो बातें उन्हें गुरुदेव ने लिखी थी वे इस प्रकार हैं :—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

"आनन्दघनजी विषयक अत्यारे गमे तेम कल्पना करातो होय छतां दिव्यशक्ति थी आ आत्मा ने एम जणायुं छे के तेओ मेड़तामां नगर-सेठ ना उपालंभ थी वस्त्र पात्र शास्त्रादि बधुं त्यागी दिगम्बर पणे शहेर छोडी जंगलमां चाल्या गया त्यारे तेमना अंतरंग भक्तो पण पाछल पाछल गया, तेओ खड्गासने ध्यान मां हता त्यारे भक्तो ए तेमनी कमरे कोपीन बांधी दीधी अने काउसग्ग छोड्या वाद ते विषे श्री आनन्दघनजीए पण विरोध न कर्यो पण रहेवा दीधी, आहार कर-पात्र मां एक वार लेता, ठाम चौविहार। काचुं पाणी तो अड़ेज शाना। आहार क्वचित् भक्तो पासे थी जंगल मांज प्राप्त करता, अथवा ते अर्थे समीप ना गामोमां जता, अंतिम काले कोपीन ने पण त्यागो अणसण करी महाविदेह वासी थया। आथी अधिक लखवानी स्फुरणा नथी माटे अेटलाथी संतोष मानजो।

अब तक जो भी आनन्दघन जी का अध्ययन हुआ, अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार किसी ने चालीस वर्ष अध्ययन किया किसी ने कुछ वर्ष और किसी ने २३ दिन में है पुस्तक लिख डाली इन महापुरुष पर अध्ययन कर लिखने वाले सभी धन्यवादार्ह हैं। जो जितनी गहराई से चिन्तन कर सका उसने उतने ही बहुमूल्य रत्न पाये। मस्तिष्क की उडान और हृदय की अनुभूतियों में रात दिन का अन्तर होता है। आत्मलक्षी चिन्तन मानव को अतीन्द्रिय ज्ञान में अधिष्ठित कर उन महापुरुष से हृदय के बेतार तारों से जोड़ने में सक्षम हो जाता है। गुरुदेव श्री सहजानन्दघनजी महाराज ने जितनी गहराई में चिन्तन किया था यदि पूर्ण रूपेण लिपिबद्ध कर पाते तो अभूतपूर्व आत्मानु-भूति मण्डित वस्तु होती किन्तु जो कुछ भी उपलब्ध हुआ, हमारा सौभाग्य है। क्योंकि हमारी आत्म-जागृति में प्रकाश स्तंभ की भाँति पथ प्रदर्शन करता रहेगा। गुरुदेव ने जो स्तवनों के मूल पाठ निर्धारित किये थे वे भी प्राप्त नहीं हुए यदि हम्पी में कहीं हस्तगत हो गए तो उन्हें अवश्य प्रकाश में लाया जायेगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चौवीसी के सतरह स्तवनों का अर्थ विवेचन करने में गुरुदेव ने गहन चिन्तन द्वारा जो आत्मानुभूति व्यक्त की, उनकी अनोखी मौलिक शैली है। श्रद्धा, सुमति, विवेक, जिज्ञासु, आकाशवाणी, सत्संगी, अन्तरात्मा, अनुभूति, विभिन्न संप्रदायों के दार्शनिक विद्वान, दशनामी संप्रदाय के सदस्यों की चर्चा आदि के माध्यम से उन्होंने जो अनुभूतियां व्यक्त की, अद्भूत हैं।

धर्मनाथ स्वामी के स्तवन के विवेचन में लिखा है कि वे स्वयं (आनन्दघन) संप्रदाय-जाल में फँसकर क्रियावन में घुड़ दौड़ करने के पश्चात् कुछ भी पल्ले न पड़ने पर गहराई से चिन्तन करते रहे। अन्तर्लक्ष जमते ही जातिस्मरण होने, और पूर्वजन्म में जैन साधु होने, तीर्थंकर निश्रा में वीतराग मार्ग की आराधना करने का क्रम स्मृति में आने से सांप्रदायिक जाल से मुक्त हो प्रभु कृपा से उन्होंने अपना परम निधान प्राप्त कर लिया।

शान्तिनाथ स्वामी के स्तवन के विवेचन में मुमुक्षु द्वारा आत्म शान्ति का उपाय पूछने पर उसे ऐसे पारमार्थिक प्रश्न उठने पर धन्यवाद देते हुए स्वानुभूति व्यक्त करते कहा है कि मेरे हृदय में ऐसे प्रश्न उठते, समाधान के लिए छटपटाता रहता। ग्राम वासी लोग मुझे 'यति' नाम से पुकारा करते। इस शरीर की जन्मभूमि में शान्ति-नाथ भगवान का जिनालय था जहाँ नित्य नियमित दर्शन-पूजन करता। एक दिन रोते-रोते विह्वल प्रार्थना में बेहोश हो गया तो हृदय प्रदेश में प्रभु की साकार मूर्ति प्रकट होने और समाधान पाने का विस्तृत वर्णन ही स्तवन में लिपिबद्ध किया लिखा है।

इस स्तवन के विवेचन की प्रारंभिक भूमिका में जो स्वानुभूति। अपनी जीवनी प्रकट करते हुए बतलाया है कि मेरे प्रश्नों का समाधान मिल जाने पर मैं होश में आकर नाच उठा और घर जाकर पारि-वारिक मण्डली को समझा बुझाकर मैंने क्षमा आदि दशविध यति धर्म

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की दीक्षा लेली और सचमुच यतिबन गया। गुरुदेव ने भी मेरे अन्तरानन्द की छाया को देखकर मेरानाम भी 'लाभानन्द' जाहिर किया। फिर प्रभु के आशीर्वाद से अपनी आत्मा में सर्वांग प्रकाश होने से आनन्द की गंगा में बहकर चैतन्य सागर में तद्रूप हो गया। इस अपूर्वकरण के फल स्वरूप नारियल में रहे हुए सूखे गोले की तरह अन्तर्मुहुर्त तक वह निवृत्ति अपार रही। इस अनिवृत्ति करण में मुझे आत्म स्वरूप की झाँकी हो गई, मैं कृतकृत्य हो गया। (इस स्वानुभूति का आनन्द प्राप्त करने के लिए विवेचन को बारंबार हृदयंगम करना चाहिए।)

इस आत्म जीवनी के अनुसार जन्मभूमि मेड़ता में शान्तिनाथ जिनालय में प्रतिदिन दर्शन पूजन करने की बात लिखी है। वहाँ शान्तिनाथ भगवान के दो मंदिर हैं। आनन्दजी कल्याणजी पेढी के प्रकाशन में नं० २२ ६० में चोपड़ों के मुहल्ले में सं० १६७७ में जिनराजसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठित मंदिर है और दूसरा नं० २२९९ मुता की पोल में है जहाँ १८ पाषाण की और १६ धातु प्रतिमाएँ है। प्रथम मंदिर में ८ पाषाण प्रतिमाएँ है। मुता के पोल वाले मंदिर का प्रतिष्ठा संवत उल्लिखित नहीं है यदि चोपड़ों द्वारा निर्मापित शांतिनाथ जिनालय में आनन्दघनजी अपने गृहस्थावस्था में पूजा करते होंतो पहले से ही आत्म चिन्तन चलता था और समाज उनकी धार्मिक वृत्तियों के कारण 'यति' कहा करता था। इस हिसाब से जिनराजसूरिजी ने विजय नंदी के बाद अर्थात् १६७८ फाल्गुन सुदि ७ को रंगविजय, मानविजय रामविजय आदि को दीक्षा देने के बाद 'आनन्द' नन्दी में लाभानन्दजी को दीक्षित किया हो। इन सहदीक्षितों में मानविजय बीकानेर (जिनरत्नसूरि) के आज्ञानुवर्त्ती और रामविजय लखनऊ (जिनरंगसूरि) के आज्ञानुयायी रहे जिनकी परम्परा में चिदानन्दजी एवं ज्ञानानंदजी हुए जिनके सम्बन्ध में आगे लिखा जा चुका है।

श्री शान्तिनाथ स्तवन के विवेचन की अनुभूति के प्राकट्य से

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञात होता है कि आनंदघनजी बाल्यकाल से धार्मिक वातावरण और आत्मचिन्तन में जीवन बिताते थे अतः इस समय उनकी अवस्था लगभग १८ वर्ष की हुई होगी अतः उनका जन्म सं १६६० के आसपास होना चाहिए और दीक्षा सं० १६७९-८० के आसपास हुई होगी। इस हिसाब से श्री आनंदघनजी ने पचास वर्ष पर्यन्त संयम मार्ग की साधना अवश्य ही की थी। यद्यपि उनके महाप्रयाण के संबंध में जैन साहित्य तो सर्वथा मौन है परंतु परणामी संप्रदाय के संस्थापक प्राणलालजी जो आनंदघनजी के समसामयिक थे, के जीवनचरित्र में उल्लेख है कि—"श्रीप्राणलालजी एक समय से १७३१ से पूर्व मेड़ता गये थे। उनका मिलन और शास्त्रार्थ भी आनंदघनजी से हुआ जिसमें उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ जिनमें (आनंदघनजी) पराभव होने से उन्होंने कुछ प्रयोग प्राणलालजी पर किये किन्तु उससे उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ। जब वे दूसरी वार मेड़ता गये तब उनका (आनंदघनजी का) स्वर्गवास हो चुका था।"

अतः आनंदघनजी का महाप्रयाण सं० १७३१ में हुआ प्रमाणित है।

श्रीमद् आनंदघनजी की उच्च साधना और आत्मानुभव, देखते उनकी गति के सम्बन्ध में श्री बुद्धिसागरसूरिजी महाराज ने उन्हें स्वर्गवासी और एकावतारी लिखा है। सं० १९८० में प्रकाशित आत्म-दर्शन में भी अहमदाबाद के यतिवर्य मणिचंद्रजी महाराज जो (सं० १८९० से ९९) रक्तपित्त महारोग होने पर भी समाधिलीन रहते थे। श्री सीमंधर स्वामी ने एक देव के समक्ष उनकी भाव चारित्रिया के रूप में प्रशंसा की। वह देव मणिचंद्रजी के पास आया और आत्म-दशा देख कर प्रसन्न हुआ। श्री मणिचंद्रजी ने उससे चार प्रश्न पूछे (१) श्रीमद् आनंदघनजी (२) श्रीमद् देवचंद्रजी और (३) उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी के कितने भव बाकी है ? तथा राजनगर-अहमदाबाद में शासनदेव की उपस्थिति है कि नहीं। उस देव ने श्री सीमंधर स्वामी से पूछ कर कहा—आनंदघनजी देव हुए हैं वहाँ से मनुष्य जन्म

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लेकर मोक्ष जायेंगे। उपाध्यायजी भी देवलोक से मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे। पर श्रीमद् देवचंद्रजी तो अभी महाविदेह क्षेत्र में केवली रूप में विचर रहे हैं। मणिचंद्रजी के विषय में भी कहा कि वे महाविदेह में मनुष्य हो कर कवलज्ञान व मोक्ष प्राप्त करेंगे। राजनगर में शासन-देव की हयाती है।

इस किंवदन्ती को २-४ श्रावकादि में भी सुनी लिखा है। किन्तु योगीन्द्र युगप्रधान गुरुदेव श्री सहजानंदघनजी महाराज ने अपनी आत्मानुभूति/दिव्य शक्ति से अनेकशः निश्चयपूर्वक लिखा है कि श्रीमद् आनंदघनजी, श्रीमद् देवचंदजी और श्रीमद् राजचंद्र तीनों महापुरुष महाविदेह में केवली रूप में विचरते हैं। अभी-अभी श्री हम्पी तीर्थ में विराजित परमपूज्या आत्मद्रष्टा, लब्धि-सिद्धि सम्पन्न माताजी को पूछने पर उनके द्वारा भी मैंने तीनों महापुरुषों के महा-विदेह में केवली होने का समर्थन पाया है।

गुरुदेव श्री सहजानंदघनजी के अनेक भवों से आत्म साधना की प्राप्ति होती रही थी। इस भव में भी आत्म साधना का तीव्र लक्ष्य था। बारह वर्ष पर्यन्त खरतरगच्छ की सुविहित परम्परा में दीक्षित हो विद्याध्ययन कर फिर गुफा वास करने लगे। आध्यात्मिक ग्रन्थों के परिशीलन का लक्ष्य प्रारंभ से ही था। श्रीमद् देवचंद्रजी और आनंद-घनजी का तो साहित्य प्रकाशित ही था। श्रीमद् ज्ञानसारजी का साहित्य आपकी ही विशेष प्रेरणा से हमने आंशिक रूप में विस्तृत प्रस्तावना-जीवनी-सहित प्रकाशित किया था। आनंदघनजी की चौवीसी और पदों की प्राचीतम प्रतियाँ प्राप्त कर उनके समक्ष प्रस्तुत की। सं० २०१० पावापुरी में उन्हीं की हमें प्रेरणा से हमने संग्रह करवाया। श्री उमरावचंदजो जरगड़ को भी बहुत सी प्रतियाँ व नकलें कर के दी। हम्पी में गुरुदेव को भी प्रेसकापी करके भेंट की। उन्होंने ९० पदों का वर्गीकरण करके दिया था वह तथा चौवीसी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य को अनेक मूल एव नकलें हमारे संग्रह में है जिनमें से उन्हें खोज निकालना अभी संभव नहीं। गुरुदेव ने चौवीसी के जिन पाठों को स्वीकार किया वह भी प्राप्त न होने से मुद्रित प्रतियों का मूल पाठ ही इसमें दिया गया है क्योंकि गुरुदेव ने केवल विवेचन ही लिखा था। परमपूज्य माताजी ने मुझे कई वर्ष पूर्व छपाने के लिए आदेश दिया था। मैंने १७ स्तवन तक गुरुदेव का विवेचन और काकाजी अगरचंदजी ने निर्देशानुसार श्रीमद् ज्ञानसारजी के बालावबोधानुसार पूरी चौवीसी का अर्थ सम्पादन कर प्रेस में देने के लिए रखा था और हम्पी की कापी वापस भेज दी पर मेरे पैर में फ्रेक्चर हो जाने से वह प्रेस कापी हमारी कलकत्ता गद्दी में इतस्ततः हो गई। फिर माताजी की आज्ञानुसार गुरुदेव के विवेचन और अवशिष्ट स्तवनों को मूल रूप में ही प्रकाशन किया जा रहा है। परमपूज्य गुरुदेव ने श्री आनंदघन चौवीसी स्तवनों के भावानुरूप चैत्यवंदन चौवीसी और स्तुति चौवीसी की रचना की थी जो परम उपयोगी होने से अन्त में दी गई है।

आनंदघन चौवीसी स्तवनों के पाठान्तर प्रचुर परिमाण में मिलते हैं पर निर्णयात्मक पाठ तैयार न होने से प्रचलित पाठों में दो चार साधारण अन्तर है वह यहाँ देता हूँ।

१. श्री ऋषभदेव स्वामी के स्तवन में ५ वीं गाथा—'कोई कहै लीला रे अलख-अलख तणोरे' के प्रकाशित पाठ के स्थान पर ललक अलख, रखा है जिसमें पुनरुक्ति दोष नहीं रहता। श्री कापड़ियाजी ने भी यही पाठ स्वीकार किया है।

२. पद्मप्रभ भगवान के स्तवन में गा-६ में "तुझ मुझ अंतर-अंतर भाजसे, वाजसे मंगल तूर" में ० अंतर-अंतए भाजसे, दिया है। इससे पुनरुक्ति दोष नहीं रहता तथा अर्थ विचारणा में भी प्रारंभ में प्रभु से पूछा है आपका और हमारा अन्तर कैसे मिटेगा ? स्तवन में विश्लेषण

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर युंजनकरण से पड़ा अंतर गुणकरण/रत्नत्रय ग्रहण होने से अंत में अंतर मिट जायगा। लिपिकार के दोष से 'अंतर' दूसरी वार आया वह 'अंतए' होने से शुद्ध होगा।

३. कुंथुनाथ भगवान के स्तवन में 'मनड़ो किमही न वाजे' पाठ में 'न' शब्द न रहने से निर्णयात्मक निषेध न रह कर प्रभु से प्रार्थना/जिज्ञासा हो जाती है और अंत में आपने मन को वश में किया है और मुझे भी मनोविजयी बना दो तो सत्य प्रतीति हो जाय। जैसे पद्मप्रभ स्तवन में प्रार्थना/जिज्ञासा है वैसे ही यहां समझना चाहिए।

४. मल्लिनाथ स्वामी के प्रकाशित स्तवन में प्रारंभ ही असंगत है। प्रथम पंक्ति "सेवक किम अवगणिये हो, मल्लिजिन ए अब शोभा-सारी। यह "सेवक किम अवगणिये हो" तो ढाल की देशी है जो स्तवन के साथ मिल गई है। अन्यथा भगवान सेवक की क्या अवगणना करते हैं? अर्थ करने में खींचतान और असंगति आ जाती है। यहाँ पर 'एह अचंभो भारी हो मल्लिजिन' पाठ होने से अर्थ संगति बैठ जाती है कि भक्त लोग आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि सभी लोग जिन दोषों को आदर देते हैं, आपने उन अष्टादश दूषणों को दूर निवारण कर दिया यही तो आपकी शोभा है।

स्तवन बावीसी के अतिरिक्त कुछ स्तवन, अनेक पद तथा सज्झायादि मिलते हैं जो जरगड़जी की पुस्तक में प्रकाशित हैं। पदों में कबीर, द्यानतराय, सुखानंद, आनंदवर्द्धन आदि के पद इसमें मिल गए हैं उन पर विचार करना हमारा इस पुस्तक में अनावश्यक है तथा अर्थ के सम्बन्ध में भी हम पड़ना नहीं चाहते। श्रीमद् के ९० पदों को विषयानुक्रम से वर्गीकरण कर गुरुदेव ने काकाजी को भेजा था जो महत्वपूर्ण और इस ग्रन्थ में प्रकाशन योग्य होने पर भी बीकानेर के हमारे संग्रह-समुद्र से खोज कर मंगाना अशक्य होने से नहीं दिया जा सका।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

बाबा आनंदघन अध्यात्म की उच्चतम भूमिका पर पहुँचे हुए योगीन्द्र युगपुरुष थे। उन्होंने आत्म साधना में अद्भुत कदम बढाये सम्यग् दर्शन और आत्मानुभूति मार्ग से अत्यन्त दूर गच्छ भेद,[1] स्व-मान्यता के आग्रहवश वीतराग मार्ग से हट कर गमन करते संघ और संघ नेताओं को गमन करते देखा तो उनकी आत्मिक पुकार ने क्रान्ति-कारी कठिन साधना मार्ग पर एकाकी चल पड़ने को बाध्य किया। उनकी संप्राप्त अल्प रचनाएँ आत्मार्थी महापुरुषों के लिए प्रकाश स्तंभ बनी और जिससे प्रभावित होकर चिन्तन की गहराइयों में उतर कर उपाध्याय यशोविजयजी आदि की विद्वत्ता पूर्ण रचनाओं ने भी अध्यात्म मार्ग का नया मोड़ लिया। सौ वर्ष बाद उनके साहित्य के चार दशक पर्यन्त परिशीलन ने श्रीमद् ज्ञानसारजी को छोटे आनंदघन नाम से अभिहित किया। उन्होंने चालीस वर्ष तक अध्ययन कर जो अनुगा-मित्व पूर्ण रचनाएं की किन्तु विधि का विधान है कि किसी ने उन पर परिशीलन कर शोध प्रबन्ध नहीं लिखा। फिर भी बाबा आनंदघन की अध्यात्म परम्परा में सुखानंदजी, चिदानंदजी ज्ञानानंदजी, द्वितीय चिदानंदजी, मोतीचंदजी और श्री सहजानंदघनजी महाराज हुए जिन्होंने गच्छ समुदाय की वाड़ाबंदी[2] से पृथक् होकर उच्चकोटि की साधना की और मुमुक्षुओं के लिए मार्गदर्शक बने।

श्री ज्ञानविमलसूरिजी का आनंदघन चौवीसी विवेचन सर्वप्राचीन है। पन्यास श्री गंभीरविजयजी महाराज, योगनिष्ट आचार्य श्री

---

१. गच्छना भेद बहु नयण निहालतां, तत्वनी बात करता न लाजे।
उदर भरणादि निजकाज करता थकां, मोह नड़िया कलिकाल राजे॥

२. "हिवै पं० ज्ञानसार प्रथम भट्टारक खरतरगच्छ संप्रदायी वृद्ध वयोम्मुखिये, सर्वगच्छ परंपरा संबन्धी हठवाद स्वेच्छायें मूकी एकाकी विहारियै कृष्णगढै सं० १८६६ बावीसी नुं अर्थ तिमज बे स्तवनकरी"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धिसागरसूरिजी, श्री मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया आदि सभी महानुभावों ने श्रीमद् के साहित्य का अध्ययन कर हजारों पृष्ठों में जो सत् साहित्य का भण्डार भरा है वे सभी हमारे लिए सम्माननीय और पूज्य हैं।

प्रस्तुत चौवीसी गत १७ स्तवनों का विवेचन आत्मानुभवी गुरुदेव श्री सहजानंदघनजी महाराज ने उस स्तर पर उठकर इन स्तवनों का रहस्य उद्घाटित किया है जहाँ श्रीमद् आनंदघनजी के भावों की झलक स्पष्ट दिखाई देती थी और उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर जो प्रश्नोत्तर हुए उसे भी लिपिबद्ध किया है, जो अभूतपूर्व और अपूर्व है। जिन्हें आत्मदर्शन व आत्म साक्षात्कार हुआ है और जिनका अखंड आत्मलक्ष रहता था ऐसे महापुरुष श्री सहजानंदघनजी का जन्म इस काल में अच्छेरात्मक था उनकी बाह्य चर्या और वेशभूषा बिहार आदि पूर्वकर्मानुसार होता था पर प्रवृत्तिकाल में अखण्ड आत्मलक्ष और निवृत्ति काल में वे अनुभूति की आनंद-धारा में निमग्न रहते थे।

श्रीवल्लभ उपाध्याय ने विजयदेवसूरि महात्म्य में सत्य ही लिखा है कि गंगा किसी के बाप की नहीं होती। महापुरुष किसी सम्प्रदाय/गच्छ विशेष के न होकर सभी के होते हैं। श्रीमद् आनंदघनजी महाराज सभी आत्मार्थी जनों के लिए कल्पवृक्ष कामधेनु तुल्य हैं। उन महापुरुषको जब स्वय ही अपना परिचय देना अभीष्ट नहीं था तो उन्हें कल्पना सृष्टि द्वारा सम्प्रदायवाद में खींचने की चेष्टा करना सर्वथा अनुचित है। जबकि श्रीमद् बुद्धिसागरसूरिजी आदि महापुरुषों व उनके बाद सभी ने उनके तपागच्छ में दीक्षित होना लिखकर अनुधावन किया है। मैंने अनेक दृष्टिकोण से उन्हें खरतरगच्छ में दीक्षित होने का पिछले पृष्ठों में ऐतिहासिक दृष्टि से प्रतिपादन किया है। तत्कालीन वातावरण या परिवेश प्रस्तुत करने में कहीं भी अपने अधिकार या मर्यादा का उल्लंघन हो गया हो तो उसके लिए पुनः पुनः क्षमा-प्रार्थी हूँ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः श्री आनंदघनजी महाराज आज महाविदेह में केवली रूप में विचरण करते हैं और जिन्होंने भी उनके साहित्य का परिशीलन करके लाभ उठाया है या उठाते हैं वे सभी महानुभाव धन्यवादार्ह हैं और सच्चे अर्थों में श्री आनंदघनजी महाराज उन्हीं के हैं। स्तुत्य हैं श्री विजयकलापूर्णसूरिजी महाराज जो श्रीमद् की जन्म व महाप्रयाण भूमि मेड़तानगर में उनका स्मारक-मन्दिर निर्माण करवाकर अनन्त कर्म निर्जरा व मुमुक्षु जन के परमोपकार का महत् कार्य कर रहे हैं।

गुरुदेव श्री सहजानंदघनजी के स्वयं हस्ताक्षरों से लिखित विवेचन की जेरोक्स कापी गुरुदेव के अनन्य भक्त मुमुक्षुवर्य श्री विजय-कुमारसिंह बडेर हम्पी से करा के लाये, जिससे यह महत्वपूर्ण प्रकाशन संभव हो सका। अतः अनेकशः आभारी हूँ, आपने पूरी प्रस्तावना देखकर उचित परामर्श भी दिया है। मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्री पारसकुमार नाहटा ने सम्पूर्ण प्रेसकापी कर दी अतः वह आशीर्वाद भाजन है। परमपूज्या आत्मद्रष्टा माताजी का आशीर्वाद हमारा चिर सम्बल है जिनसे प्रेरणा प्राप्त कर यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। आश्रम मंत्री व अहर्निश सेवारत मैनेजिंग ट्रस्टी गुरुदेव के अनन्य भक्त एस० पी० घेवरचंद जैन एवं प्रकाशन में सहयोगी महोपाध्याय श्री विनयसागरजी, निदेशक प्राकृत भारती, जयपुर तथा सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता का सौजन्य किसी भी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता।

जिनके द्वारा यह विवेचन लिखा गया है उन महाविदेही प्रभु श्री सहजानंदघनजी महाराज का विस्तृत परिचय जानने को अनेक महानुभाव उत्सुक होंगे। वे आगामी प्रकाशन "सद्गुरु श्री सहजानंद-घन चरियं" काव्य हिन्दी अनुवाद सह प्रकाश्यमान ग्रन्थ द्वारा जिज्ञासा पूर्त्ति की प्रतीक्षा करें।

प्रस्तुत प्रकाशन, व प्रस्तावना में रही हुई अशुद्धियों व स्मृति दोषजन्य पुनरुक्तियों या स्खलनाओं के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

सन्तचरण रज।

भँवरलाल नाहटा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचनकार

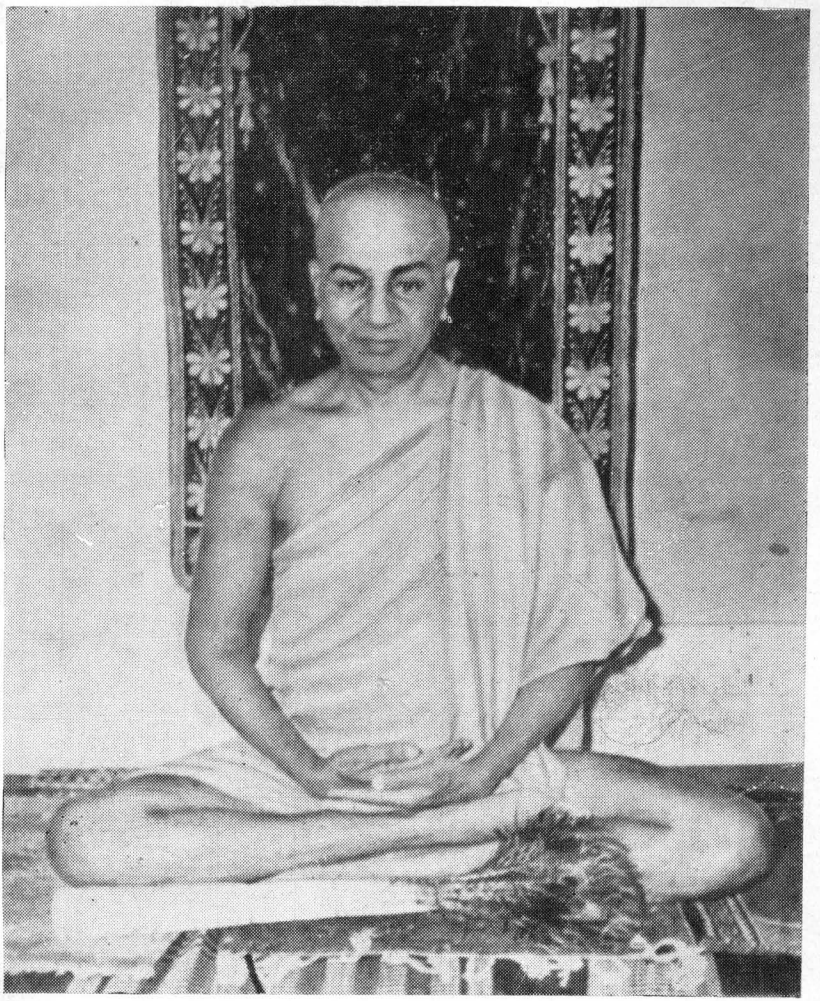

योगीन्द्र युगप्रधान श्री सहजानन्दघनजी महाराज

जन्म १९७०	दीक्षा १९९१	युगप्रधान पद २०१८	महाप्रयाण २०२७
भा० सु० १०	वै० सु० ६	ज्ये० सु० १५	का० सु० २
डुमरा कच्छ	लायना	बोरड़ी	हम्पी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परम पूज्या आत्मद्रष्टा माताजी श्री धनदेवीजी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्दघन चौबीसी का संक्षिप्त भावार्थ

श्री ऋषभ जिन स्तवन

(राग मारू: करम परीक्षा करण कुंवर चाल्यो, ए देशी)

ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ कंत।
रींझ्यो साहब संग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त ॥ ऋ० ॥१॥

प्रीत सगाई जग मां सहु करै, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय ॥ ऋ० ॥२॥

को कन्त कारण काष्ठ भक्षण करै, मिलस्युं कंत नै धाय।
ए मेलो नवि कदिये संभवे, मेलो ठाम न ठाय ॥ ऋ० ॥३॥

कोइ पति रंजन अति घणुं तप करै, पति रंजन तन ताप।
ए पति रंजन में नवि चित धरचूं, रंजन धातु मिलाप ॥ ऋ० ॥४॥

कोइ कहै लीला ललक अलख तणी, लख पूरे मन आस।
दोष रहित नै लीला नवि घटै, लीला दोष विलास ॥ ऋ० ॥५॥

चित्त प्रसत्ति पूजन फल कह्यूं, पूजि अखंडित एह।
कपट रहित थई आतम अरपणा, 'आनन्दघन' पद रेह ॥ ऋ० ॥६॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१. ऋषभ-स्तवनम्

पराभक्ति :

१. संत आनन्दघनजी की पराभक्ति युक्त चेतना अपने हृदय प्रदेश में भगवान ऋषभदेव के साकार रूप में प्रत्यक्ष सुयोग को पाकर उल्लास पूर्वक अपनी श्रद्धा सखी को कह रही है कि :—

हे सखि ! समस्त आवरण और अन्तरायों से परिमुक्त मोह और क्षोभ को जीतने वाले जिनेश्वर भगवान अव्याबाध समाधि-स्वरूप शुद्ध चैतन्य मूर्ति श्री ऋषभदेव मेरे प्रियतम हो चुके, मैंने पति रूप में उनका वरण कर लिया अतः अब मैं अन्य कोई भी मोही और क्षुब्ध को प्रियतम रूप में नहीं चाहती, क्योंकि मुझे खुशी से अपनालेने पर मेरे साहब मेरा कभी भी परित्याग नहीं करेंगे। अतएव मर्मज्ञों ने हमारे इस लोकोत्तर सम्बन्ध को 'सादि अनन्त भंग' रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि चेतन और चेतना के शुद्ध सम्बन्ध की आदि तो है पर अन्त नहीं है।

२ विश्व में समस्त प्राणी परस्पर प्रेम सम्बन्ध करते चले आ रहे हैं, पर वास्तव में वह उपाधिमूलक होने से लौकिक प्रेम सम्बन्ध है, लोकोत्तर नहीं, क्योंकि लोकोत्तर प्रेम सम्बन्ध तो निरुपाधिक बताया गया है, जो कि मोह क्षोभ आदि उपाधिरूप पर धर्म धन के सर्वथा त्याग पूर्वक ही होता है।

३. हे सखि ! अलौकिक प्रेम-पथ के अनजानों की विश्व में कैसी करुण फजीहत हो रही है, अब जरा-सा यह भी सुन लो :—

पिय-प्रेम वश कितनीक स्त्रियाँ अपने बिछुड़े हुए प्रियतम को शीघ्रतम भेंटने के लिए उसकी लाश के पीछे दौड़ती हुई अपने शरीर को सुलगती लकड़ियों का भक्ष्य बनाकर पति की लाश के साथ ही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

साथ जीते-जी जलकर सतियाँ बनती हैं, इतने पर भी उन्हें पियु-मिलन का तो कदापि सम्भव ही नहीं है क्योंकि सभी की करणी एक सी नहीं होती। पति का जीव अपनी करणी अनुसार न जाने कहाँ चल बसा जबकि खुद को कहाँ जाना पड़ेगा जिसका उन्हें तो कोई निश्चित पता ही नहीं।

इसी तरह मेरे पियु को मिलने के लिए—कितनेक अज्ञ तपस्वी पञ्चाग्नि तपते हैं तो कितनेक धूनी रमाते है, कितनेक धर्म-मूढ़ घृत धान्य आदि के होम-हवन द्वारा एवं कितनेक धर्म-राक्षस पशु पक्षी और मनुष्य तक की बली द्वारा जलती लकड़ियों का तर्पण करते हैं, तथा कोई अग्नि को ही पियु मान कर उसे स्थायी रखने के हेतु चन्दन के वन के वन उजाड़ रहे हैं। इस प्रकार अनेक धर्म मत चल रहे हैं। पर अफसोस ! उन बेचारों को मेरे पियु के वास्तविक स्वरूप, स्थान और इनकी आराधन-पद्धति की जरा सी भी गतागम नहीं है, तब भला ! उन्हें पियु-मिलन कैसे हो सकता ?

४. अपने रूठे पति को रिझाने के लिए कितनीक स्त्रियां बहुत सी कठिन तपस्यायें करती हैं। यदा-कदाचित् तप के प्रभाव से किंवा प्रकृति मिलाप से पियु खुश भी हो गया, तो वह आलिंगन आदि से काम-ज्वर बढ़ाकर शरीर को संतप्त कर देता है, फलतः इस पियु रंजन से रजः—वीर्य रूप धातु मिलाप होकर अशाता-मूलक संसार की ही वृद्धि होती है।

तथैव मेरे प्रियतम को रिझाने के लिए कितने ही अज्ञ तपस्वी बहुत से दुर्धर तपश्चरण करते हैं परन्तु अन्तर्लक्ष शून्य केवल बाह्य तप आदि द्वारा पियु रिझाने से तो पियु नहीं रीझता अपितु क्रिया काल में तन ताप रूप अशाता और फल काल में प्रायः अन्तर्ताप रूप शाता वेदनीय का वह कारण बनता है अतः पियु रिझाने की इन दोनों पद्धतियों को अपने हृदय में स्थान न देकर, मैंने तो केवल पियु प्रकृति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के अनुकूल अपनी प्रकृति बना उन्हें रिझाया, क्योंकि एक सी प्रकृतिवालों का ही परस्पर मिलाप हो सकता है। परमात्मा शुद्ध चिद्-धातुमय हैं अतः साधक को भी अपनी चित्त-शुद्धि अनिवार्य है।

५. कितनेक शृंगार-रस-रसिक एक मात्र भगवत् लीला को ही मेरे प्रियतम रिझाने का प्रबल साधन बताते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि भगवान तो किसी भी लक्षण से लक्षित नहीं हो सकते अतः वे 'अलख' हैं, पर उन्होंने ललक अर्थात् प्रबल अभिलाषा से जो इस दुनिया की रचना की और फिर इसमें स्वतः अवतार धारण करके उन्होंने जो-जो लीलायें की, केवल उन्हीं लीलाओं को लक्ष पूर्वक महिमा गाने सुनने मात्र से ही वे प्रसन्न होकर भक्त-मन की सभी आशाएं पूर्ण करते हैं, अतः त्याग, वैराग्य और प्रभु के वास्तविक स्वरूप आदि समझने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। पर विवेक चक्षु से देखने पर यह मन्तव्य भी केवल भ्रान्ति रूप सिद्ध होता है, क्योंकि भगवान तो राग द्वेष और अज्ञान आदि दोषों से रहित हैं जबकि लीला में तो प्रगट दोषों का ही विलास है, यथा—जहाँ लीला है, वहाँ कुतूहल-वृत्ति है जो अपूर्णज्ञान-अज्ञान और आकुलता सूचक है। और लीला तो चाह पूर्वक ही हो सकती है। जहाँ चाह है वहाँ राग है। जहाँ राग है वहाँ द्वेष तो अविनाभावी रूप से है ही। एवं जहाँ राग द्वेष उभय है वहाँ काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि समस्त दोष समूह है। अतः लीला और जगत कर्तृत्व निर्दोषी भगवान में किस न्याय से घटित हो सकते हैं अर्थात् किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते। फलतः केवल कल्पना रम्य इस भगवत् लीला से केवल काल्पनिक फिल्म में ही अटक कर वे भक्त भी मेरे प्रियतम को नहीं रिझा सकते।

इस तरह मेरे प्रियतम को रिझाने के लिए जितनी भी लौकिक साधन पद्धतियाँ हैं वे सभी व्यर्थ हैं। लोकोत्तर साधन पद्धतियाँ भी अनेक हैं, जिनमें सुगम और सर्व श्रेष्ठ साधन भक्ति-पूजन है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

६. भक्ति किंवा पूजन के भी अनेक प्रकार हैं, पर इन सब में निष्कपट आत्म समर्पण रूप पराभक्ति ही सर्वोत्कृष्ट है। शुद्ध चैतन्य मूर्तिरूप प्रत्यक्ष परमात्मा अथवा उनके अभाव में जिनको शुद्ध चेतन तत्व का साक्षात्कार हो चुका हो उन प्रत्यक्ष सत्पुरुष में परमात्म भाव स्थापन करके उनके चरणों में साधक की चेतना का समर्पित हो जाना ही आत्म समर्पण है। अर्पित चेतना को चुरा कर उसे बहिर्मुख प्रवाह रूप में अन्यत्र कहीं भी भटकाना कपट है। अतः विश्व के समस्त पदार्थों से चित्त वृत्ति व्यावृत करके उसे अविच्छिन्न धारा प्रवाह रूप में साध्याकार तन्मय बनाना-यही पराभक्ति रूप अखण्डित पूजन है और इसी का फल चित्त-प्रसत्ती अर्थात् चित्त शुद्धि है। जो आत्मा और परमात्मा किंवा चेतना और चेतन की अभिन्नता तद्रूपता रूप आत्म साक्षात्कार की जननी है। अतः पराभक्ति ही मेरे प्रियतम के आनन्दमय ठोस-पद—मोक्ष पद को प्राप्त करानेवाली रेखा—सरल मार्ग है।

पराभक्ति द्वारा आत्म साक्षात्कार करके बीज कैवल्य दशा में स्थित संत लाभानन्दजी ने क्रमशः सत्पुरुषार्थ द्वारा आत्म प्रतीति-धारा और आत्म लक्ष-धारा की अखण्डता की, और उन्होंने उस आत्मानन्द से छकी-सी अप्रमत्त दशा में अपना नाम भी आनन्दघन रखा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री अजित जिन स्तवन

(राग आसावरी-म्हारो मन मोह्यो श्री विमलाचलें रे, ए देशी)

पंथडो निहालूं बीजा जिन तणुं, अजित अजित गुण धाम ।
जे तें जीत्या तिण हूँ जीतियो, पुरुष किस्यूं मुझ नाम ।। पं० ।।१।।

चरम नयन करि मारग जोवतो, भूल्यो सयल संसार ।
जिण नयने करि मारग जोइये, नयण ते दिव्य विचार ।। पं० ।।२।।

पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां, अन्धो अन्ध पलाय ।
वस्तु विचारै जो आगमै करी, चरण धरण नहीं ठाय ।। पं० ।।३।।

तर्क विचारै वाद परम्परा, पार न पहुंचै कोय ।
अभिमत वस्तु वस्तुगते कहै, ते विरला जग जोय ।। पं० ।।४।।

वस्तु विचारै दिव्य नयण तणों, विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे तरतम वासना, वासित बोध आधार ।। पं० ।।५।।

काल लब्धि लहि पंथ निहालस्यूं, ए आसा अवलम्ब ।
ए जन जीवे जिनजी जाणज्यो, 'आनन्दघन' मत अम्ब ।। पं० ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२. अजित-स्तवनम्

अजित पथ-यथाख्यात चारित्र :

जब अप्रमत्त सन्त आनन्दघन सम्पूर्ण कैवल्यदशा के हेतु रूप अनुभूति धारा की अखण्ड श्रेणी में प्रवेश करानेवाली सातिशय अप्रमत्त दशा की ओर कदम बढ़ाने के लिए अपनी योग्यता का परीक्षण करते करते स्तब्ध हो जाते हैं, तब उनके स्तब्ध अन्तःकरण में स्फुरित श्रद्धा और विवेक का परस्पर संवाद से सूचन है :—

श्रद्धा—बन्धु विवेक ! आज तुम यूथभ्रष्ट मृग की तरह दिग्मूढ़ क्यों दिख रहे हो ?

विवेक :—श्रद्धे ! मुझे सम्पूर्ण कैवल्य-पद पर पहुँचने का मार्ग नहीं सूझ रहा है।

श्रद्धा—ओह ! जिस मार्ग से द्वितीय तीर्थङ्कर भगवान अजितनाथ कैवल्य-पद पर पहुँचे, उस मार्ग की ओर दृष्टि लगाओ। (अंगुलि निर्देश पूर्वक) यह रहा वह अजित-मार्ग।

विवेक—(उस ओर दृष्टि देकर निरीक्षण करके कुछ क्षण के पश्चात्) ऊँह ! इस यथाख्यात-चारित्र प्रधान सन्मार्ग को देखकर मैं तो हावला-बावला बन गया। क्योंकि इस पथ के पथिक के लिए अपने अनन्त आत्म गुणों को प्रतिपल विकसित करनेवाली (धाम) बागडोर हथिया कर मार्ग बीच अड़े हुए समस्त शत्रुदल को सर्वथा परास्त करते जाना अनिवार्य है। पर मुझ में वैसी क्षमता नहीं है। अतः मेरे लिए यह अनन्त गुणों के धाम-रूप अजित-मार्ग अजित ही है। अजी ! मैं तो क्या, बड़े बड़े पराक्रमी पुरुष भी जिस मार्ग में खता खा गये, उस मार्ग में साहजिक चलते हुए भगवान अजितनाथ ने लीलामात्र में ही सभी प्रकार के आवरण, अन्तराय एवं राग, द्वेष, मोह आदि समस्त शत्रुओं को सर्वथा जीतकर सम्पूर्ण कैवल्य पद पा लिया। अतः भगवान ने तो अपना अजित नाम चरितार्थ कर दिखाया,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु भगवान से जो जीते गये, उन्हीं शत्रुओं से मैं परास्त हुआ—विवश हूँ, अतः मेरा नाम उन महान पुरुषों की कोटि में किस प्रकार गिना जा सकता है? क्योंकि महान् पुरुषों की कोटि में वे ही गिने जा सकते हैं जो कि सत्पुरुषार्थ में कभी जरा-सी भी पीछे हट न करे।

२-३. श्रद्धा—यों हताश होकर पीछे हटना तुम्हारे लिए शोभास्पद नहीं है। अतः जाओ! इस अनुभव पथ के पथिक यथार्थ ज्ञाता किसी समर्थ अनुभवी सन्त को खोजो और उनकी अनन्य शरणता पूर्वक शत्रु दल को जीतने की तालीम लेते हुये उनके पीछे-पीछे चलो; क्योंकि सन्त का शरण ही निर्बल का बल दुःखी की दवा और सफलता की कुंजी है।

विवेक—यद्यपि तेरा कहना यथार्थ है, पर इस दुषम काल में वैसे समर्थ सत्पुरुष खोजने पर भी नहीं मिल रहे हैं। मैंने ज्ञानियों की परम्परा में विद्यमान मार्गदर्शकों को अच्छी तरह से परिचय करके देखा, पर हाय! मुझे ऐसा कटु अनुभव हुआ कि मानो केवल अन्धों से ही अन्धे ढकेले जा रहे हों। क्योंकि आत्म-दर्शन, आत्म ज्ञान और आत्म-समाधि प्रधान भगवान के इस अतीन्द्रिय मार्ग से लाखों योजन दूर किसी लौकिक मार्ग को ही अलौकिक समझ कर सभी-के-सभी मार्गदर्शक केवल चर्म चक्षु से ईर्या-पथ के शोधन पूर्वक असन्मार्ग के अग्रसर हो रहे हैं। जिन नेत्रों से इस अरूपी मार्ग का साक्षात्कार होता है, उन्हें दिव्य नेत्र समझना चाहिए, वे दिव्य-नेत्र क्वचित् किसी-किसी की बातों में तो हैं, पर किसी के भी घट में देखने में नहीं आये। जहाँ मार्गदर्शकों की भी ऐसी दयनीय-दशा है, वहाँ उनका अनुयायी सारा संसार भूला हुआ भटकता ही रहे, तो इसमें आश्चर्य भी क्या?

श्रद्धा—बन्धो! तुझे यदि देखते पुरुषों का अभाव प्रतीत होता है, तो भगवान के अनुभव-वाणी प्रधान आगम-साहित्य को मथ कर प्रबल तत्त्व विचार का सहारा लो और आगे बढ़ो।

विवेक—प्रबल तत्त्व विचार के सहारे वर्तमान आगमों को अनु-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भव की कसौटी से कस कर देखा तो इस अजित मार्ग में चलना तो दूर रहा प्रत्युत निश्चित-रूप में उस पर कदम का रख पाना ही असम्भव प्रायः है। क्योंकि आगमों में बताया गया है कि इस काल में इसी क्षेत्र में यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान और मोक्ष की उपलब्धि किसी को भी नहीं हो सकती।

४. श्रद्धा—यद्यपि आगमों में कहीं पर कोई विशेष उद्देश्य वश वैसा उल्लेख है—तो रहो, पर तुम उसे तर्क की कसौटी से कस कर देखो, क्योंकि तीर्थङ्करों की शिक्षा उनके निर्वाण से बहुत काल के पश्चात् ग्रन्थारूढ़ हुई है, अतः परमार्थ दृष्टि से परीक्षणीय है।

विवेक—परीक्षा के हेतु तर्क के सहारे मैं यथाशक्ति दिमागी-कुश्ती भी लड़ लूं, पर उससे समाधान पाना तो दूर रहा, उल्टे वाद-विवाद जन्य परिखा-परम्परा में चढ़ने-उतरने रूप मरते दम तक व्यर्थ ही लय लग जाती है: जिससे पिण्ड छुड़ाकर इस मार्ग के परले पार पहुँचने में मैं तो क्या, दूसरे भी कोई समर्थ नहीं हैं। क्योंकि ज्ञानियों के सम्मत तत्त्व-रहस्य के यथार्थ अनुभवियों की बात तो दूर रही, उसे यथास्थित समझकर प्रतिपादन-मात्र करने वाला भी विश्व में कोई विरला ही देखने में आता है। तो फिर मैं किससे तत्त्व-चर्चा करूँ ?

५. श्रद्धा—वास्तविक तत्त्व विचारक चाहे विरले हों, पर हैं तो सही, अतः उन्हें अपने अनुकूल बनाकर इस अजित-पथ में चलने योग्य अपनी ज्ञान दशा का विकास करो।

विवेक—यद्यपि सद्विचार की योग्यता रखने वाले कोई इने-गिने व्यक्ति हैं, पर तारतम्य से उनके मन, वचन और काय योग जितने बलवान हैं, उतना ही उन लोगों में मत, पन्थ, भान, पूजा, सत्कार, अर्थ, वैभव आदि का बलवान वासना-तारतम्य है और तदनुरूप उतना ही बलवान उनका वासना से वासित कसैला बोध और आचरण है, अतः सद्विचार दशा में प्रवेश करने की भी उन्हें गरज नहीं है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निरन्तर सद्विचार के बिना स्व-विचार दशा में प्रवेश नहीं होता और स्व-विचार दशा के बिना ज्ञान-नेत्र नहीं खुलते। ज्ञान-नेत्र के बिना ज्ञान-दशा में स्थिति नहीं होती एवं उत्कृष्ट ज्ञान-स्थिति के बिना इस अजित मार्ग में चला नहीं जाता। अहो! इस विकराल काल में निश्चित रूप से जहाँ ज्ञान-नेत्र का ही विच्छेद है वहाँ मैं अपनी ज्ञान दशा की अखण्डता के लिए किसको अनुकूल बनाऊँ और किस तरह इस अजित मार्ग में आगे बढ़ूं?

श्रद्धा—ओहो! इस काल की ऐसी विषम परिस्थिति है? तभी तो इसे ज्ञानियों ने जो 'दुषम' संज्ञा दी वह यथार्थ है। अब तो भैय्या! इस मार्ग को पार करने के लिए उचित काल की प्रतीक्षा करना तुम्हारे लिए अनिवार्य ही है। तब तक तुम धैर्य रखो, उतावला मत बनो और प्राप्त ज्ञानदशा में अप्रमत्त बने रहो। मैं तुम्हारे सत्पुरुषार्थ की सराहना करती हुई तुम्हें अभिनन्दन देती हूँ और तुम्हारी मंगल कामना पूर्वक भगवान अजितनाथ से प्रार्थना करती हूँ कि (भगवान के प्रति):—

६. हे जिनेश्वर! आप इस मेरे सत्पुरुषार्थी बन्धु को अपने निज-जन सत्पुरुषों की ही कोटि में गिनियेगा, क्योंकि इसने आपके समस्त मीठे आम से भी अनन्तगुण विशिष्ट रसीले अतीन्द्रिय आनन्द को प्रपुष्ट करने वाले इस यथाख्यात-चारित्र मार्ग में चलने के लिए अगुप्त वीर्य से अथक प्रयत्न करने में कोई कसर नहीं रखी; पर मार्ग के पारंगत होने में केवल यह दुषमकाल ही इसे बाधक बन रहा है, अतः उचित काल की प्रतीक्षा करता हुआ यह मेरा बन्धु काल-लब्धि का योग पाकर आगामी जन्म में उचित क्षेत्र में समर्थ ज्ञानियों के आश्रय से आपके इस मार्ग को पार करके सम्पूर्णतया कैवल्य-पद पर अवश्य आरूढ़ होगा, क्योंकि वर्तमान में इसी आशा के सहारे यह आपका भक्तजन कालक्षेप करता हुआ जी रहा है ऐसा मेरा अनुभव है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री सम्भव जिन स्तवन

(राग रामगिरी-रातड़ी रमीने किहां थी आविया, ए देशी)

संभव देव ते धुर सेवो सबे रे, लहि प्रभु-सेवन भेद।
सेवन कारण पहिली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद ॥ सं० ॥१॥

भय चंचलता जे परणामनी रे, द्वेष अरोचक भाव।
खेद प्रवृत्ति करतां थाकिये, दोष अबोध लखाव ॥ सं० ॥२॥

चरमावर्तन चरमकरण तथा, भव परिणति परिपाक।
दोष टलै वलि दृष्टि खुलै भली, प्राप्ती प्रवचन वाक ॥ सं० ॥३॥

परिचय पातक घातक साधुस्यूं, अकुशल अपचय चेत।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करि, परिसीलन नय हेत ॥ सं० ॥४॥

कारण जोगे कारण नीपजै, एमां कोइ न वाद।
पिण कारण विण कारज साधियै, ते निज मति उन्माद ॥ सं० ॥५॥

मुग्ध सुगम करि सेवन आदरै, सेवन अगम अनूप।
दीज्यो कदाचित सेवक याचना, 'आनन्दघन' रस रूप ॥ सं० ॥६॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

३. श्री संभव-स्तवनम्

अन्तर्दृष्टि साधना रहस्य :

सन्त आनन्दघन अपने स्वरूप विलास-भवन के सप्तम मंजिल पर विराजमान हैं। भवन में सर्वत्र मन्द किन्तु उज्ज्वल चैतन्य रोशनी चमक रही है। सामने श्रद्धा विवेक आदि सेवक-वर्ग खड़ा है। भवन का वातावरण शीतल, सुगन्धित एवं शान्त है। कुछ क्षणों के पश्चात् उस नीरवता को भंग करते हुये श्रद्धा ने विवेक को कहा कि बन्धो! अब तो तुम लोकोपकार करने के लिए कालोचित सर्वथा समर्थ हो चुके हो, अतः जिस साधन-क्रम से तुम्हें आत्मदृष्टि, आत्मज्ञान और आत्मसमाधि की प्राप्ति हुई है वह साधन पद्धति दूसरे उचित पात्रों को बताकर उन लोगों की अन्तर्दृष्टि का भी उन्मीलन करो, क्योंकि ज्ञानियों का यही सनातन व्यवहार है।

१. विवेक—श्रद्धे! यद्यपि तुम्हारा ख्याल यथार्थ है पर इस कार्य का होना तभी शक्य है जबकि सत्संग और सत्पात्रता का सुयोग हो। सत्पात्रता की प्रगटता के लिए साधक को पराभक्ति की उपलब्धि अनिवार्य है। पराभक्ति में प्रवेश कर पाना तभी संभव है जबकि वह देवाधिदेव श्री संभवनाथ की चैतन्य मुद्रा को सुलटाये हुये अपने हृदय-कमल की कर्णिका के ऊपर प्रतिष्ठित करके उसमें अपनी चित्त-वृत्ति प्रवाह की स्थिरता पूर्वक एक निष्ठा से उसकी आराधना करे। अतः सर्वप्रथम अनुभवी सद्गुरु से इस आराधना के रहस्य को समझ लेना साधक के लिए नितांत आवश्यक है, और आराधना की प्रथम भूमिका में आराधक के पास उपादान कारण के रूप में अभय, अद्वेष और अखेद इन तीन गुण-रत्नों का होना भी अनिवार्य है।

२. चञ्चल परिणाम वश चित्त का प्रभु की चैतन्य मुद्रा में न जमना ही भय है। शरीर, संसार और भोग वश उस प्रभु मुद्रा के प्रति दिलचस्पी का न रहना ही द्वेष है एवं दिलचस्पी के अभाव-वश

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नियमित आराधना प्रवृत्ति से थक कर अनियमित बन जाना ही खेद है। ये तीन महान दोष ही सम्यक्-नेत्र खोलने में बाधक हैं।

३. ये तीनों ही दोष तो अन्तिम अर्ध पुद्गल-परावर्तन-काल के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-रूप चरण-चंक्रमण में से अन्तिम चरण-स्थिति में करण-लब्धि में से होने वाले अन्तिम अनिवृत्ति-करण में जन्य परम्परा जनक राग, द्वेष और अज्ञान परिणति के परिपक्व होकर परिक्षीण होने के अवसर में सद्गुरु की प्रकृष्ट वचन प्रधान अनुभव-वाणी की प्राप्ति होने पर ही टलते हैं, और सम्यग्-दृष्टि खुलती है।

४. अतः साधकीय-चित्त की सदोषता मिटाने के लिए आत्म-विस्मरण, आत्म-अप्रतीति और आत्म-दुर्लक्ष आदि पापों को समूल नष्ट करने वाले दिव्य-द्रष्टा साधु-पुरुषों के परिचय में रहकर उनके श्रीमुख से आध्यात्मिक ग्रन्थों के तत्व-रहस्य का श्रवण द्वारा हृदय में अवधारण, उस पर अनेक दृष्टि-बिन्दु युक्त सुयुक्तियों द्वारा परिचिन्तन से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक, एवं उपादेय तत्त्व के सर्वथा अनुरूप अपना स्वभाव-परिणमन-रूप-परिशीलन—इन परमार्थ दृष्टि को व्यवहारू बनाने वाले कारणों का सेवन सतत करते रहना साधक के लिए अनिवार्य है।

५. क्योंकि उपादान और निमित्त को कारणता प्रदान करने वाले उपरोक्त सुयोग के बिना कदापि कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती, अतः कारणता के सद्भाव में यदि कार्य सिद्धि हो जाती हो, तब तो इसमें किसी भी प्रकार के विवाद को स्थान ही नहीं है, परन्तु कारणता को प्रगट किये बिना ही कार्य साधना में लगे रहना वह तो केवल अपने मत-पन्थ के अभिनिवेश से उत्पन्न उन्माद मात्र ही है, और कुछ नहीं।

६. हे श्रद्धे ! प्रवर्तमान सम्प्रदायों में प्रायः सर्वत्र इस उन्माद का ही बोलबाला है। इन उन्मादी मुग्ध लोगों ने आराधना का बाजार

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बहुत सस्ता कर रखा है, अतः अत्यन्त सुगमता से केवल बाहरी धूम-धाम पूर्वक ही आराधना का आदान-प्रदान चल रहा है। पर ग्राहक और व्यापारी दोनों को जरा-सा भी ख्याल नहीं है कि अन्तर्दृष्टि की अनन्य कारण-रूप भगवान संभवनाथ की यह आराधना कितनी अगम और अनुपम होनी चाहिए। वैसी हालत में यह सेवक किस को क्या कहे और कैसे समझावे? यह सेवक तो उक्त दयनीय दशा को देख द्रवित होकर उनके लिए भगवान से केवल इतनी ही याचना कर सकता है कि हे निष्कारण करुणाशील! चैतन्य-रस से परिपुष्ट आनन्दघनमूर्ति के रूप में आप स्वयं उन लोगों के हृदय में शीघ्र प्रविष्ट होकर उन्हें अपनी अनन्य-भक्ति प्रदान करो, जिससे कि वे अन्तर्दृष्टि के लिए सुपात्र बन सकें।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री अभिनन्दन जिन स्तवन

(राग-धन्याश्री सिंधुओ-आज निहेजो रे दीसै नाहलो-ए देशी)

अभिनन्दन जिण दरसण तरसियै, दरसण दुरलभ देव ।
मत मत भेदे जो जइ पूछियै, सहु थापे अहमेव ।। अभि० ।।१।।

सामान्यै करि दरसण दोहिलूं, निरणय सकल विशेष ।
मद में घेरचो हो आंधो किम करै, रवि ससि रूप विलेष ।। अभि० ।।२।।

हेतु विवादे चित धरि जोइयै, अति दुरगम नयवाद ।
आगम वादे, गुरूगम को नहीं, ए सबलो विषवाद ।। अभि० ।।३।।

घाती डूंगर आडा अति घणा, तुझ दरसण जगनाथ ।
धीठाई करि मारग संचरूँ, सैंगू कोइ न साथ ।। अभि० ।।४।।

दरसण दरसण रटतौ जो फिरूं, तो रण-रोझ समान ।
जेहनै पिपासा अमृत पान नी, किम भाँजै विष पान ।। अभि० ।।५।।

तरस न आवै मरण जीवन तणों, सीझै जो दरसण काज ।
दरसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज ।। अभि० ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

४. श्री अभिनन्दन-स्तवनम्

सम्प्रदायों में जैन दर्शन का अभाव :

श्रद्धा—बन्धु विवेक ! मुझे बहुत दुःख हो रहा है कि कई लाख संख्यक नामधारी जैन होने पर भी उनमें से अन्तर्दृष्टि की योग्यता रखने वाला तुम्हें एक भी सुपात्र नहीं मिल रहा है। तब तो प्राण विहीन कलेवर-सी ही जैन-दर्शन की स्थिति हो चुकी, क्योंकि दर्शन-मोह को जीत कर अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति के बिना तो अविरति सम्यक्-दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान में प्रवेश ही नहीं हो पाता, जो कि जैन-दर्शन की एकाई है। अतः तुम्हें जैन द न का जड़ से ही उद्धार करना नितान्त आवश्यक है।

१. विवेक—अरी श्रद्धे ! मेरे दिल की व्यथा तुम्हें क्या बताऊँ ! जिनेश्वर भगवान ने सदैव अभिनन्दन के योग्य इस जैन दर्शन का जिस प्रकार निरूपण किया और जिस प्रकार उन्होंने इसे स्वयं अपने आचरण में उतारा, उसी प्रकार अविरोध-रूप में इसे देखने के लिए मैं तो कभी से तरस रहा हूँ, पर उसी प्रकार में इस दर्शन के दर्शन होने की दुर्लभता को देख कर अपने दिल की दिल में ही समाकर चुप हूँ, क्योंकि यह दर्शन-परम्परा जीर्णप्रायः और खण्ड-खण्ड हो चुकी है। इसके प्रत्येक भेद-प्रभेदों के अधिनायक प्रायः विराधक वृत्ति प्रवाह में बहने वाले तुच्छ बहिरात्म-पुरुष दिख रहे हैं। उन सभी के सभी नेताओं ने केवल दृष्टि-राग का प्रबल शासन जमा कर मोक्ष के प्रमाण-पत्र के रूप में अमुक वेष-भूषा और अमुक क्रियाकाण्ड कायम करके अपना-अपना अखाड़ा बना लिया है। जहाँ केवल अपने ही अनुयायी के लिए 'समकित' की रसीद कटती है और अशेष भिन्न सम्प्रदायी 'मिथ्यात्वी' घोषित किये जाते हैं। प्रत्येक नेता के पास अलग-अलग रूप में जाकर यदि उन्हें पूछा जाय कि 'वर्तमान में जिनेश्वर भगवान की वीतराग परम्परा के मुख्य पट्टधर कौन हैं ? तो सभी के स्व-मुख से एक स्वर में यही जबाब

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मिलता है कि—अहमेव अर्थात् हमी ह।' इतने पर भी वे सभी ज्ञातपुत्र वेशभूषा किंवा क्रियाकाण्ड की छोटी-छोटी बातों को लेकर परस्पर झगड़ते रहते हैं। फलतः एक तो उन्हें उक्त झगड़े और क्रिया-काण्ड से फुरसत नहीं, और दूसरे उन्हें ऐसे सुदृढ़ संस्कार हैं कि मुझ जैसे अैरों-गैरों के साथ बात करने पर उन्हें 'मिथ्यात्व' लग जाता है। तब मैं क्यों सिर पचावूँ ?

२. इसी प्रकार विद्यमान सम्प्रदायों में दर्शन-सामान्य-रूप आचार मूलक धर्म-मर्यादा प्रधान जैन दर्शन दुर्लभ हो चुका। हे का दर्शन श्रद्धे ! अब मैं तुम्हें दर्शन-विशेष-रुप विचार-मूलक जैन दर्शन के सम्बन्ध में उन तत्त्वविदों के सभी प्रकार के निर्णयों को सुना कर क्यों व्यर्थ बकवाद करूं ! तुम इशारे मात्र से ही समझ लो कि चक्षु-दर्शनावरण के उदय में मात्र सुनी-सुनाई बातों की धारणा से ही यदि कोई जन्मान्ध सूर्य-चन्द्र के रूप का विश्लेषण करना चाहे तो वह कैसे करे ? वैसी ही तद्विषयक मतवादियों की हालत है।

३. न्यायदृष्टि से साध्य अर्थ को प्राप्त कराने वाले हेतुओं के विशेष कथन को चित्त में अवधारण करके जैन-दर्शन-विशेष को यदि देखते हैं तो बीच में नयवाद-स्थली की घाटी आती है। उसको पार करने का मार्ग इतना टेढ़ा-मेढ़ा और सँकरा है कि उस पर काणी आँख से देखकर चलने वाले तो तुरन्त ही चकरा कर गिर जाते हैं, और यदि असावधान हों तो ठीक नजर वालों की भी टाँगें ऊँची हो जाती हैं। तब भला ! केवल सूरदासों की कतारों के लिए वह मार्ग कितना दुर्गम होना चाहिए ? ठीक यही न्याय गम के बिना आगम-दृष्टि से चलने वालों पर लागू होता है, क्योंकि सम्प्रदायों में गुरुगम नहीं रही। इसीलिए इतना बलवान विखवाद सर्वत्र फैला हुआ है।

हे श्रद्धे ! यह मुझसे सहा नहीं जाता, अतः भगवान श्री अभि-नन्दन से नतमस्तक हो प्रार्थना करता हूँ कि :—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

४. हे जगन्नाथ ! सम्प्रदाय वालों ने वेशभूषा, क्रियाकाण्ड और मत-ममत्व आदि आत्म-घातक अनेक पहाड़ के पहाड़ पटक कर आपके वीतराग सन्मार्ग का सर्वथा निरोध कर दिया है, फलतः सम्प्रदायों में कहीं भी आपके दर्शन का अविरोध रूप में दर्शन नहीं रहा अतः मैं आपकी कृपा के फलस्वरूप प्राप्त आत्म-समाधि बल से उन सभी के सभी घाती-पर्वतों को लाँघकर कोई उत्तम मार्गारूढ़ सज्जन साथी के न मिलने पर भी केवल आपके सहारे एकाकी होकर आपके वीतराग पथ पर चलने की धृष्टता कर रहा हूँ । हे कारुण्यमूर्त्ते ! यदि इसमें स्वच्छन्द वश मेरी कोई गल्ती हुई हो, तो सन्मति देकर उससे मुझे छुड़वाईयेगा ।

५. प्रभो ! मैंने बाध्य होकर साम्प्रदायिक प्रतिबन्धों का इसीलिए परित्याग किया कि आपके अमृत तुल्य वीतराग दर्शन विषयक यथार्थ दार्शनिक प्रभावना की धून वश मैं यदि वहाँ दर्शन-दर्शन रटता हुआ जीवन भर भटकूँ, तो भी वह भटकन केवल रणभूमि के रोझ की तरह प्राणघातक ही सिद्ध होगी । क्योंकि सम्प्रदायों में हलाहल तुल्य कोई विखवाद के सिवाय और कुछ नहीं बचा । जिसे केवल अमृत-पान की ही प्रबल पिपासा सता रही हो, उसके पात्र में यदि कोरे विष-पान की ही सामग्री परोसी जाय तो वह जानबूझ कर क्यों विष पान करे ? और यदि कर भी ले तो उसके प्राणों का अन्त हो किंवा पिपासा का अन्त ?

६. हे जिन वीतराग ! इसकाल इस क्षेत्र में आपके वीतराग दर्शन की सांगोपांग यथार्थ उपलब्धि यद्यपि दुर्लभ है, फिर भी यदि जीव एक बार साहस और सचाई के साथ आत्म-समर्पण करके अनन्य शरण हो आपका कृपापात्र बन जाय, तो उसे आज भी मार्गप्राप्ति सुलभ हो जाय । और यदि मार्गारूढ़ होकर अपना दर्शन कार्य सम्पन्न कर ले, तो जीवन-मरण के त्रास से सदा के लिए मुक्त होकर वह सद्धपद पर आरूढ़ हो आनन्दघन महाराज बन जाय ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री सुमति जिन स्तवन

(राग बसन्त या केदारो)

सुमति चरण कँज आतम अरपण, दरपण जिम अविकार । सुग्यानी ।
मति तरपण बहु संमत जाणिये, परिसरपण सुविचार ॥ सु० ॥१॥

त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, बहिरातम धुर भेद । सु० ।
बीजो अन्तर-आतम, तीसरो, परमातम अविछेद ॥ सु० ॥२॥

आतम बुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अधरूप । सु० ।
कायादिक नो साखीधर रह्यो, अन्तर आतम भूप ॥ सु० ॥३॥

ज्ञानानन्दे पूरण पावनो, वरजित सकल उपाध । सु० ।
अतीन्द्रिय गुण गण मणि आगरू, इम परमातम साध ॥ सु० ॥४॥

बहिरातम तजि अन्तर आतमा, रूप थई थिर भाव । सु० ।
परमातमनुं आतम भाववूं, आतम अरपण दाव ॥ सु० ॥५॥

आतम अरपण वस्तु विचारतां, भरम टलै मति दोष । सु० ।
परम पदारथ सम्पति संपजै, 'आनन्दघन' रस पोष ॥ सु० ॥६॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

५. श्री सुमति स्तवनम्

आत्म समर्पण रहस्य :

सत्पुरुष बाबा आनन्दघन साम्प्रदायिक प्रतिबन्धों से ऊँचे उठकर अवधूत आत्म-दशा में विचरण कर रहे हैं। कोई एक मुमुक्षु, आत्म-ज्ञानी की खोज में अनेक सम्प्रदायों की छानबीन करता हुआ एकाएक बाबा के सानिध्य में उपस्थित हुआ। बाबा की आत्म-दशा ने उसे प्रभावित और प्रसन्न कर दिया। अपने समाधान के लिए अवसर पाकर उसने प्रश्न प्रस्तुत किया कि—भगवन्! आत्म कल्याण की कामना वश मैं सजीवनमूर्त्ति की खोज में वर्षों से भटक रहा हूँ, और आत्म-समर्पण के लिए अनेक धर्म सम्प्रदायों के धर्म-गुरूओं से मिला, पर अब तक मुझे कहीं से भी तृप्ति नहीं हुई। कृपया आप बताईये कि अब मैं क्या करूँ? आत्म-समर्पण कहाँ और कैसे करूँ?

१. बाबा आनन्दघन—भव्यात्मन्! आत्म समर्पण तो वहीं होना चाहिए कि जिनकी मति सम्यक्, स्वरूपनिष्ठ और दर्पण की तरह स्वच्छ निरावरण हो, और जिनका आचरण जल-कमल की तरह निर्लेप हो। अर्थात् जो अनेक सन्मति मुमुक्षुओं के नाथ होने की योग्यता रखने वाले सुमति-नाथ हों।

सर्व प्रथम अपनी मति को सम्यक् स्वच्छता द्वारा तर्पण-संतुष्ट करने के लिए बहुत से दार्शनिक विचारकों के सम्मत ज्ञातव्य को जान लेना आवश्यक है। तदनन्तर उस पर सद्-विचार द्वारा हेय, ज्ञेय और उपादेय का निर्णय करके उपादेय तत्व की उपलब्धि के लिये अपनी उपादान शक्ति को कारणता प्रदान करनी चाहिए जो कि निमित्त को कारणता दान करके उसे निमित्त-कारण बनाने पर ही सम्भव है। निमित्त को आत्म-समर्पण कर देना ही उसे निमित्त कारण बनाना है। निमित्त कारण को समर्पित आत्मा की उपादान-शक्ति का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रम-क्रम से व्यक्त कार्यान्वित होते रहना-यही उपादान को कारणता प्रदान करके उसे उपादान-कारण बनाना है। फलतः उपादान कारण ही बदलता हुआ उपादेय कार्य-रूप में सिद्ध होता है। कर्त्तव्य-क्षेत्र में कारण जितने पुष्ट हों, उतना ही पुष्ट कार्य होता है। अतः पुष्टि निमित्त-कारण के रूप में भगवान सुमतिनाथ के चरण-कमलों में आत्म समर्पण करके परिसर्पण करना अर्थात् मार्ग-दर्शक के पद-चिन्हों के सहारे सर्वथा उनके पीछे-पीछे चलते रहना, यही साधना-पथ में पथिक के लिए अनिवार्य है।

मुमुक्षु—हे ज्ञानावतार ! आपने जो भी फरमाया, वह अक्षरशः मेरे दिल में जम गया; कृपया अब आत्म समर्पण का स्वरूप और विधि का रहस्य बताइये।

२. बाबा आनन्दघन—परमार्थतः विश्व में सभी देहधारियों का आत्म-द्रव्य यद्यपि एक-सा है, फिर भी व्यवहार से उसकी तीन अवस्थायें देखने में आती है। जिनमें से प्रथम अवस्था को बहिरात्मा, दूसरी को अन्तरात्मा और तीसरी को परमात्मा कहते हैं, जो कि आत्मा में मोह और क्षोभ के परिपूर्ण-रूप में होने से, न्यूनाधिक्य-रूप में होने से एवं सर्वथा न होने से होती है। उनमें से प्रथम की दोनों अवस्थाएँ मोह और क्षोभ रूप उपाधि को सर्वथा मिटाने पर मिट सकती है, किन्तु तीसरी परमात्मदशा मोह-क्षोभातीत होने से अमिट है।

३. आत्म विस्मरण पूर्वक जिसकी चेतना शरीर आदि नोकर्म, ज्ञानावरण आदि द्रव्य-कर्म, राग-द्वेष-अज्ञान आदि भावकर्म और सुख दुख आदि कर्म फलों में आत्म बुद्धि से फैली हुई हो, फलतः जो अपने आपको पुरुष, स्त्री किंवा नपुंसक आदि शरीर के रूप में ही प्रतीत कर रहा हो। अतएव वह शरीर और चेतना के पारस्परिक सम्बन्ध को एक-रूप में अनुभव करने वाला 'मिथ्यात्वी' मोह-क्षोभ वश समरस

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव को नाश करने वाला 'आत्मघाती' एवं जन्म मरण रूप पाप-भूमि का पोषक आत्मा ही बहिरात्मा है। और जो इस बहिरात्म-दशा को मिटाकर उपरोक्त शरीर आदि का साक्षी मात्र हो, उनमें फैली हुई अपनी चेतना को लौटाकर उसे अन्तर्मुख प्रवाह से आत्म प्रतीति, आत्मलक्ष किंवा आत्मानुभूति-धारा के रूप में अपने चेतन तत्त्व में समा रहा हो--वह आत्मा अन्तरात्म-स्वरूप है।

४. जो स्वाधीन ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण हो, राग आदि समस्त उपाधि भावों से परिमुक्त होने से पवित्र चरित्रवान् एवं सकल कर्म क्षय हो जाने के कारण जिनके अनन्त अतीन्द्रिय गुण मणियों से भरे हुये क्षायिक नव-निधान प्रकट हो चुके हों—वह आत्मा ही परमात्मा है।

इस प्रकार आत्मा की जो ये तीनों अवस्थायें बताई, उनमें से तीसरी परमात्म-दशा ही साधक आत्मा का साध्य है। जिसकी सिद्धि के लिए आत्म समर्पण का दाँव लगा देना साधक के लिए नितान्त आवश्यक है।

५. आत्म समर्पण का दाँव लगाने की विधि निम्न प्रकार है :—

प्रथम सत्संग द्वारा उपर बताये लक्षणों से तीनों ही अवस्था युक्त आत्मा की समझ को सही कर लेना चाहिए। बाद में बहिरात्मदशा का सर्वथा परित्याग करके चैतन्य भावों की अन्तरात्मा के रूप में स्थिरता कर लेनी चाहिए। उस स्थिति में परमात्म-दशा के एकाग्र ध्यान पूर्वक शुद्ध आत्म-भावना की निष्ठा द्वारा आत्मा को सतत प्रभावित करते रहना, यही आत्म समर्पण का दांव लगाना है। जिस दाँव के लगाने पर आत्मा में ही परमात्म-दशा का अभेद अनुभव रूप आत्म-साक्षात्कार होता है।

६. इस तरह इस आत्म समर्पण नामक तत्त्व विचार के फल

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप आत्म-भावना की निष्ठात्मक आराधना-पद्धति के क्रमिक विकास से आत्म भ्रान्ति सर्वथा मिट जाती है जो कि केवल मति का ही दोष है। भ्रांति के मिटने पर क्रमशः आत्म प्रतीति, आत्म लक्ष और आत्मानुभूति की अखण्डता सधने पर अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान, अनन्त समाधि, अनन्त वीर्य आदि समस्त आत्म वैभव युक्त, परमात्म पद—मोक्ष पद की प्राप्ति होती है कि जहाँ चैतन्य रस के सघन आनन्द का ही केवल पोषण है।

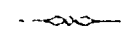

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री पद्मप्रभ जिन स्तवन

(राग-मारु तथा सिन्धु : चाँदलिया संदेशो कहिजे म्हारा कंतने रे, एदेशी)

पदमप्रभु जिन तुज मुझ आंतरौ, किम भांजै भगवन्त ।
करम विपाके कारण जोइने, कोई कहै मतिवन्त ।। पदम० ।।१।।

पयइ ठिई अणुभाग प्रदेशथी, मूल उत्तर बहु भेद ।
घाती अघाती बंधोदयोदीरणा, सत्ता करम विछेद ।। पदम० ।।२।।

कनकोपलवत पयडी पुरुष तणी, जोड़ि अनादि सुभाय ।
अन्य संजोगी जहँ लगी आतमा, संसारी कहवाय ।। पदम० ।।३।।

कारण जोगे बांधे बंधनै, कारण मुगति मुकाय ।
आश्रव संवर नाम अनुक्रमे, हेयोपादेय सुणाय ।। पदम० ।।४।।

जुंजन करणे अंतर तुझ पड्यो, गुण करणे करि भंग ।
ग्रन्थ उक्ति करि पंडित जन कह्यो, अन्तर भंग सुअंग ।। पदम० ।।५।।

तुझ मुझ अन्तर अन्तए भांजसे, बाजस्यै मंगल तूर ।
जीव सरोवर अतिशय वाधिस्ये, 'आनन्दघन' रस पूर । पदम० ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

६. श्री पद्मप्रभु स्तवनम्

परमात्मा के प्रति अन्तरात्मा की पुकार :

१. सत्पुरुष बाबा आनन्दघन की अन्तरात्मा, परमात्मा पद्मप्रभु के प्रति पुकार कर रही है कि हे जिनेश्वर ! आपके और मेरे बीच में जो यह अन्तर है, वह कैसे मिटे ? भगवन् ! अब तो यह दूरी मुझसे सही नहीं जाती। तब यकायक आकाशवाणी हुई।

आकाशवाणी—हे अन्तरात्मा ! अपने पारस्परिक अन्तर का कारण तो तुम्हारा कर्म परिणाम है। इस कर्म परिणाम के रहस्य को यदि समझना है, तो कर्मविपाक के प्रतिपादक शास्त्रों को देखो, जिनमें श्रुतज्ञानी सत्पुरुषों ने कहा है कि :—

२. कर्म परिणाम दो तरह के हैं, एक चिद्विकार-रूप और दूसरे जड़-विकार-रूप। ये दोनों ही चेतन और जड़-पुद्गलों के पारस्परिक निमित्त से होते हैं। चिद्विकार-राग, द्वेष और अज्ञानमूलक हैं जिन्हें भाव-कर्म कहते हैं, और जड़-पुद्गलविकार कार्मण तथा औदारिक आदि रूप हैं, जिन्हें क्रमशः द्रव्य कर्म और नोकर्म कहते हैं। आत्म-प्रदेश स्थित क्षीर-नीर वत् इस त्रिवेणी संगम को बन्ध कहते हैं।

द्रव्य कर्म का बन्ध चार प्रकार की परिस्थितियों को लेकर होता है।

(१) प्रदेश बन्ध—जीव कृत आत्म प्रदेश-कम्पन के अनुरूप नियत संख्या में कार्मण पुद्गल-स्कन्धों का गैस होकर अनुभव-प्रमाण चैतन्य प्रदेश में सर्वांग फैल जाना।

(२) स्थिति बन्ध—जीव की कम्पन कालीन भावना के अनुरूप उस गैस का बादल के रूप में वहीं नियत काल-मर्यादा को लेकर टिकना।

(३) अनुभाग-रस-बन्ध—जीव की शुभाशुभ भावना के फल

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप चेतन-सत्ता को आकुलता प्रदान करने के लिए उस गैस में क्षमता का होना।

(४) प्रकृति-बन्ध—जीव के शुभाशुभ भाव-रस की विविधता और तारतम्य के अनुरूप चैतन्य-प्रदेश में मोह आदि विभावों का आविर्भाव और ज्ञान आदि स्वभावों का तिरोभाव कराने वाली उस गैस की क्षमता में स्वभाव-वैचित्र्य का होना।

प्रकृति-बन्ध के स्थूल-रूप में मूल भेद ८ और अन्तर भेद १४८ किंवा १५८ हैं। जबकि सूक्ष्म-रूप में वह अनन्त प्रकार का है। प्रकृति-बन्ध के मूल आठ भेदों में से क्रमशः ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चारों घाती एवं वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु ये चारों अघाती कहलाते हैं। घाती कर्म आत्मा के ज्ञान आदि अनुजीवी गुणों को तिरोहित करते हैं, जबकि अघातीकर्म अव्याबाध आदि प्रतिजीवी गुणों को। आत्मा के अस्ति-रूप गुणों को अनुजीवी और नास्ति-रूप गुणों को प्रतिजीवी कहते हैं।

चैतन्य-प्रदेश में कर्म-बादल के रूप में कार्मण्य गैस की सदवस्था को कर्म-सत्ता, स्थिति की परिपक्व दशा में होने वाले उसके विस्फोट को कर्म उदय और अपरिपक्व दशा में होनहार विस्फोट को कर्म उदीरणा कहते हैं। कर्म-सत्ता में जिस समय में जिस गैस-अणुसमुदाय का जितने परिमाण में विस्फोट होता है, उस समय उतने ही परिमाण में वह गैस-अणु-समुदाय चेतन सत्ता से अलग होकर बिखर जाता है।

इसी प्रकार कार्मण्य-गैस-अणु-समुदाय का बन्ध और विस्फोट, चेतन की शुभाशुभ कल्पना की निरन्तरता के कारण चैतन्य-प्रदेश में निरन्तर हुआ करता है, फलतः चेतन भी इसी कर्म-धारा में निरन्तर बहता हुआ संसार सागर में गोता खा रहा है।

३. चेतन इस कर्म-धारा के संतति प्रवाह में न जाने कब से बह रहा है, इसका कोई पता ही नहीं है जैसे खदान में सुवर्ण और पत्थर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का संयोग किसी का किया हुआ नहीं, वह तो पहले से ही स्वाभाविक है, वैसे ही उपरोक्त कार्मण-शरीर रूप प्रकृति पिण्ड और चैतन्य-पुरुष की जोड़ी का सम्बन्ध भी अनादि का स्वाभाविक ही है। और इस अनादि कालीन संयोगी स्थिति में आत्मा जब तक रहता है तब तक वह संसारी कहलाता है।

४. यह संसारी-बन्ध स्थिति—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग, इन पाँच कारणों से टिकी हुई है। इन बन्ध कारणों के प्रयोग द्वारा ही आत्मा स्वयं कर्म-बन्धनों से बँधता है, और यदि इन कारणों को छोड़ दे तो वह उन बन्धनों से मुक्त होता है। शास्त्रीय परिभाषा में इन बन्ध-कारणों के प्रयोग का नाम आश्रव ओर वियोग का नाम संवर बताया गया है, जो कि क्रमशः त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य है।

५. तेरे और मेरे बीच जिन-जिन कारणों से जो-जो अन्तर पड़ गया है, वह-वह अन्तर गुणकरण से मिटाया जा सकता है। जैसे कि मिथ्यात्व के कारण पड़े हुये आत्म-प्रतीति के अन्तर को सम्यक्त्व से, अविरति के कारण पड़े हुये आत्म-लक्ष के अन्तर को प्रवृत्ति-मात्र में आत्म-लक्ष की अखण्डता रखाने वाली सर्वविरति से, इसी तरह प्रमाद जन्य अन्तर को अप्रमत्त-अनुभूति से, कषाय जन्य अन्तर को क्षपक-श्रेणी आरोहण से और योग जन्य अन्तर को शैलेशी करण से मिटाया जा सकता है। इसी तरह इन पाँचों ही प्रकार से अन्तर को सर्वथा मिटाने पर तुम शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयंज्योति सुखधाम स्वरूप अपने सिद्ध-पद पर आरूढ़ होते ही हमसे ऐसे मिल जाओगे जैसे कि ज्योति में ज्योति। फिर भी उस एकाकारता में (सुअंग) स्व द्रव्य का स्वरूप-अस्तित्व नहीं मिटता जैसे कि चन्द्र-सूर्यादि का बिम्ब। इसी तरह इस रहस्य को प्रज्ञावान ज्ञानियों ने चमत्कारपूर्ण निरूपण से सद्ग्रन्थों में बताया है।

(६) हे अन्तरात्मा ! तेरे और मेरे बीच का बहुत-सा अन्तर तो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मिट चुका है, अब रहे सहे अन्तर को मिटाने के लिये तुम प्रबल पुरुषार्थ करते रहो। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि आखिर अपना यह पारस्परिक अन्तर सर्वथा मिट जायेगा। यद्यपि तुम्हारे प्रमाद तक के आंशिक विजय के उपलक्ष में अभी भी अप्रमत्त दशा के अनाहत बाजे तो बज ही रहे हैं, पर ज्यों-ज्यों सातिशय-अप्रमत्त बन कर तुम क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ होवोगे त्यों-त्यों ज्ञानातिशय, पूजातिशय, वचनातिशय और अपायापगमातिशय आदि के विलक्षण बाँध द्वारा जीव सरोवर की पालि अत्यन्त सुदृढ़ बन्ध जायगी। ज्यों-ज्यों बाँध-बंधता जायगा, त्यों-त्यों उसमें आत्मानन्द की सघन वृष्टि जन्य चैतन्य-रस की बाढ़ आयेगी, फलतः बाँध की पूर्णता में जीव-सरोवर आनन्द-रस से लबालब होकर लहराने लग जायगा। ऐसा होते ही सम्पूर्ण कैवल्य विजय की सुमंगल देव-दुंदुभि भी बजने लग जायगी।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री सुपार्श्व जिन स्तवन

(राग-सारंग मल्हार, ललमानी देशी)

श्री सुपास जिन वंदिये, सुख सम्पत्ति नो हेतु । ललना ।
शांत सुधारस-जलनिधि, भवसागर माँ सेतु । ललना ।।१।।

सात महामय टालतो, सप्तम जिनवर देव । ललना ।
सावधान मनसा करी, धारो जिन पद सेव । ललना । श्री सु० ।।२।।

सिव संकर जगदीश्वरु, चिदानन्द भगवान । ललना ।
जिन अरिहा तीर्थङ्करु, ज्योति स्वरूप असमान । ललना । श्री सु० ।।३।।

अलख निरंजन वच्छलू, सकल जन्तु विसराम । ललना ।
अभयदान दाता सदा, पूरण आतम राम । ललना । श्री सु० ।।४।।

वीतराग मत कल्पना, रति अरति भय सोग । ललना ।
निंद्रा तन्द्रा दुरदसा, रहित अबाधित जोग । ललना । श्री सु० ।।५।।

परम पुरुष परमातमा, परमेसर परधान ।
परम पदारथ परमेष्ठी, परमदेव परमान । ललना । श्री सु० ।।६।।

विधि विरंचि विश्वंभरु, ऋषीकेस जगनाथ ।
अघहर अघमोचन धणी, मुगति परमपद साथ । ललना । श्री सु० ।।७।।

इम अनेक अभिधा धरै, अनुभव गम्य विचार ।
जे जाणै तेहनै करै, 'आनन्दघन' अवतार । ललना । श्री सु० ।।८।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

७. श्री सुपार्श्व जिन-स्तवनम्

भगवान के विविध नाम-रूपों का रहस्य :

एक बार कोई दशनामी सम्प्रदायों के अनुयायी परस्पर मिल कर धर्म-चर्चा कर रहे थे। प्रत्येक सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी मान्यतानुसार ही ईश्वर की महत्ता सिद्ध करने में प्रयत्नशील थे, फलतः उस चर्चा ने विवाद का स्थान ले लिया। उस विवाद को समीप से जाते हुये बाबा आनन्दघनजी ने सुना, सुनते ही वे वहीं खड़े हो गये। सभ्य-व्यक्तियों ने उनकी अद्भुतदशा का स्वागत किया और कोलाहल को शान्त करते हुये यह प्रस्ताव पास किया कि इस विषय में हमें बाबा ही समाधान दें, क्योंकि हमें विश्वास है कि आप मध्यस्थ सन्त हैं। बाबा ने लाभालाभ का कारण देखकर वह बात मंजूर कर ली।

सभ्य—महात्मन्! आध्यात्मिक सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये हमें किस भगवान को सर्वोपरि आराध्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए? कृपया आप अपने अनुभव बल से इस तथ्य पर प्रकाश डालिये।

आनन्दघन—प्यारे पुत्रों! सर्व प्रथम ईश्वर क्या है और कहाँ है, इस तथ्य को समझ लेना आवश्यक है। राग, द्वेष और अज्ञान से मुक्त केवलज्ञान आदि समस्त आत्मैश्वर्य युक्तता ही ईश्वर का स्वरूप है। वह जगत कर्त्ता नहीं, प्रत्युत भक्त-हृदय-स्थित अहं भाव को मिटाने के लिये साक्षीकर्त्ता माना गया है। क्योंकि विश्व की प्रत्येक घटना ज्ञान किंवा अज्ञान रूप में किसी न किसी संसारी जीव की बुद्धि और प्रयत्न की ही आभारी है। जीवों से भिन्न और कहीं भी ईश्वर तत्त्व नहीं हैं, प्रत्युत प्रत्येक जीव में ही ईश्वरीय शक्ति मौजूद है। जो कि तत्वचिन्तन और जीवन-शुद्धि से व्यक्त हो सकती है। शुद्ध जीवन को ही जिनदशा कहते हैं और जो जिनदशा युक्त हो वही ईश्वर कहलाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१. आध्यात्मिक सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये तो हमें ईश्वर की जिनदशा ही अभीष्ट, वन्दनीय और आराधनीय होनी चाहिये। क्योंकि उस दशा में राग, द्वेष और अज्ञान आदि का अत्यन्ताभाव और ज्ञान आदि समस्त आत्मैश्वर्य का सम्पूर्ण शुद्ध और स्थायी आविर्भाव है। अजी! आविर्भाव ही नहीं प्रत्युत जिनदशा के (पार्श्व=) अगल-बगल सर्वत्र अनन्त अपार (सुपास) सुख ही सुख और आराम ही आराम है। अतः उस दशा में हो ईश्वर सुपार्श्व-सुपास जिन कहलाते हैं।

भगवान सुपार्श्वनाथ परम शान्ति को प्रदान करने के लिये तो मानो साक्षात् सुधारस के ही समुद्र हैं, और जबकि भवसागर को पार होने वालों के लिये वे ही पृथ्वी-शिलामय पुल हैं।

२. इस अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थङ्कर देवों में से वे जिनवर सातवें गिने जाते हैं। उनके शरण में जाने पर (१) इस लोक का भय, (२) परलोक का भय (३) वेदना भय (४) अरक्षा भय (५) अगुप्ति भय (६) आकस्मिक भय (७) मरण-भय—इन सात प्रकार के महाभयों को साधकीय हृदय में से वे भगा देते हैं। अतः लाला! तुम सब अपने हृदय-कमल में उनके चरण-कमलों को स्थापन करके एकाग्र और सतर्क मन से निरन्तर उनकी ही आराधना करो।

३. लाला! अधिक क्या कहूँ? किसी भी नाम-रूप में एक उन्हें ही भजो, क्योंकि अभिधा-शक्ति से वे अनेक गुणनिष्पन्न नाम-रूपों को धारण किये हुये हैं। जैसे कि—

कर्मोपद्रव निवारक होने से शिव, सुखकर्ता होने से शंकर, जगत में सर्वोत्कृष्ट एश्वर्यवान् होने से जगदीश, समस्त चिन्मय समृद्धि वाले होने से चिदानन्द, केवल ज्ञान-स्वरूप होने से भगवान, राग आदि शत्रुओं को जीतने वाले होने से जिन, विश्व-पूज्य होने से अर्हन्, तिरने के उपाय-रूप में जंगमतीर्थ-साधु संस्था, मानसतीर्थ—अहिंसा, सत्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि, और स्थावरतीर्थ—तपोभूमि आदि के नियामक होने से तीर्थङ्कर सर्वांग निर्मल ज्योतिपिण्ड-रूप होने से ज्योतिस्वरूप, उस काल उस क्षेत्र में अद्वितीय होने से असमान।

४. बहिर्दृष्टि से अलक्ष्य होने से अलख, कर्म कालिमा से मुक्त होने से निरंजन, सारे विश्व के लिए हितकारी होने से जग-वत्सल, किसी के भी जीवितव्य को नहीं मिटाने वाले होने से सकल जन्तु विश्राम, सदैव मृत्युरोग का औषध देकर उसे मिटाने वाले होने से अभयदान-दाता, पूर्णतः आत्म-स्वरूप में ही रमण करने वाले होसे से पूर्ण आत्माराम।

५. राग रहित होने से वीतराग, उन्मत्तता कल्पना-तरंग सुख-दुख-बुद्धि, भय-शोक निद्रा आलस्य आदि दुष्ट परिणाम दशा से मुक्त होने से अबाधित-योगी।

६. पुरुषार्थी-पुरुषों में सर्वोत्कृष्ट होने से परम पुरूष, बहिर्अन्तर परम इन तीनों ही आत्म दशा में उत्कृष्ट होने से परमात्मा, आत्मैश्वर्य-वानों में उत्कृष्ट होने से परमेश्वर, सभी के अग्रसर होने से प्रधान, मोक्ष-पद के उत्कृष्ट रहस्य को पाने वाले होने से परम-पदार्थ, सभी के लिए उत्कृष्ट भाव से वाँछनीय होने से परमेष्ठी, सभी देवों में उत्कृष्ट देव होने से परम देव, सम्पूर्ण ज्ञानी होने से परिज्ञानी।

७. विश्व में सभी प्राणियों का भाग्य निर्माण प्रभु की आराधना-विराधना पर ही निर्भर है, आराधना-विराधना के तीव्र-मन्द तारतम्य से भाग्य का तारतम्य है और भाग्य-तारतम्य के अनुरूप ही यह सृष्टि-रचना क्रम एवं प्राणी मात्र का पोषण-क्रम स्वाभाविक चल रहा है, अतएव भाग्य निर्माण, सृष्टि रचना और जीवन पोषण में भगवान ही निमित्त होने से विधि-विधाता, विरंची-ब्रह्मा, विश्वंभर, आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों को साक्षात् करने वाले ऋषि पुत्रों के ईश होने से ऋषीकेश, जगत को अनाथता से छुड़ाने वाले होने से जगनाथ, आत्म-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

घातक मिथ्यात्व आदि पापों को स्वयं हरण करके उनसे साधकों को छुड़ाने वाले धणी-धोरी होने से अधहर, अघमोचन, धणी-धोरी और भ्रान्ति-मुक्ति, अज्ञान-मुक्ति, असमाधि-मुक्ति, विदेह मुक्ति आदि मुक्ति-पदों में से सर्वोत्कृष्ट परिनिर्वाण-पद को प्राप्त करने वाले योगी होने से मुक्ति परमपद साध भी वे ही हैं।

८. इस तरह शब्दों का सीधा-साधा अर्थ बतलाने वाली अभिधा-शक्ति की दृष्टि से अनेक गुण निष्पन्न नामों को धारण करने वाले भगवान एक वे ही हैं, पर व्युत्पत्ति मूलक वह भगवन्नाम रहस्य केवल अनुभवगम्य होने से सभी को समझने में नहीं आता, अतः सद्-गुरु कृपा से गुरुगम पूर्वक इस रहस्य को समझ कर यदि कोई भगवान की इस जिनदशा की लक्ष्य पूर्वक आराधना करे तो उसके हृदय में भगवान स्वयं आनन्दघन के रूप में अवतरित हो कर उसे भी आनन्दघन बना दें।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन

(राग केदारो, गौडी-कुमरी रोवै आक्रन्द करै, सुनै कोई मुकावै—ए देशी)

चन्द्रप्रभ मुखचन्द सखी सुनै देखण दे, उपसम रस नो कंद । सखी० ।
सेवै सुरनर इन्द, सखी०, गत कलिमल दुख दंद ।। सखी० ।।१।।

सुहम निगोदे न देखियो, सखी०, बादर अतिही बिसेस । सखी० ।
पुढवी आऊ न लेखियो, सखी०, तेऊ वाऊ न लेस ।। सखी० ।।२।।

वनसपती अति घण दिहा, सखी०, दीठो नहीं दीदार । सखी० ।
बि ती चौरिंदी जल लीहा, सखी०, गति सन्नी पण धार ।। सखी० ।।३।।

सुर तिरि निरय निवास मां, सखी०, मनुज अनारज साथ ।
अपज्जत्ता प्रतिभास मां, सखी०, चतुर न चढियो हाथ ।। सखी० ।।४।।

इम अनेक थल जाणिये, सखी०, दरसण विन जिनदेव । सखी० ।
आगम थी मति आणिये, सखी०, कीजे निरमल सेव ।। सखी० ।।५।।

निरमल साधु भगति लही, सखी०, जोग अवंचक होय ।
किरिया अवंचक तिम सही, सखी०, फल अवंचक जोय ।। सखी० ।।६।।

प्रेरक अवसर जिनवरु, सखी०, मोहनीय खय थाय । सखी० ।
कामित पूरण सुरतरु, सखी०, 'आनन्दघन' प्रभु पाय ।। सखी० ।।७।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

८. श्री चन्द्रप्रभ स्तवनम्

भवान्तर दर्शन और सजीवन मूर्त्ति के प्रत्यक्ष योग की कामना :

१. अप्रमत्तयोगी सन्त आनन्दघनजी की अन्तरात्मा कैवल्यदशा प्रधान अपने सम्पूर्ण निरावरण स्व-स्वरूप-दर्शन के पुष्ट निमित्तकारण के रूप में सर्वज्ञ भगवान की प्रत्यक्ष निश्रा को पाने के लिये छटपटा रही है। उसके बिना इसे क्षणभर भी कहीं चैन नहीं है, अतः भावावेश में आकर अपनी अनुभूति को कह रही है कि—

हे सज्जिनी ! या तो तूं ज्ञान धारा में अखण्ड स्थिर रह कर अपने सर्वथा निरावरण स्व-स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करादे अथवा मार्ग-दर्शक के रूप में सर्वज्ञ भगवान श्री चन्द्रप्रभ स्वामी के सर्वथा निरावरण मुख-चन्द्र को किसी भी तरह एक बारगी प्रत्यक्षरूप में मुझे दिखलाने की व्यवस्था कर कि जो प्रभु केवल प्रशम-रस के ही कन्द हैं क्योंकि जिनके सभी प्रकार के कल्पना-क्लेश, कर्म-मल और जीवन-मरण आदि दुख-द्वन्द्व सर्वथा मिट गये हैं। अतएव जिनकी कोटानुकोटी देव-देवेन्द्र और नर-नरेन्द्र अनवरत सेवा कर रहे हैं।

दोनों में से एक भी उपाय में यदि तू विलम्ब करेगी तो शायद मेरे प्राण-पखेरू उड़ जायेगें, अतः शीघ्र कर।

अनुभूति—हे अन्तरात्मा ! धैर्य रखो, उतावल मत करो, कर्म-स्थिति-बन्ध शिथिल होने दो, तब तक सभी महात्माओं को प्रतीक्षा करनी पड़ी है।

अन्तरात्मा—कितना धैर्य रखूँ ? क्योंकि उक्त दर्शन के बिना ही मैंने अनादि से अब तक का काल व्यर्थ गँवा दिया, और कैसी विषम परिस्थितियों में से मुझे गुजरना पड़ा—जिनका स्मरण हो जाने से अब कैसे जीना ? यह चिन्ता हो रही है।

२. मुझे असीम काल तक सूक्ष्म-निगोदिया के स्वाँगों में रहना पड़ा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

था। वहाँ के शरीर इतने सूक्ष्मतम और निकृष्टतम उत्संगपूर्ण थे कि एक ही शरीर में अनन्त जीव ठूंसे हुये रहते थे। सभी के श्वासोश्वास और आयु समान था। आयु भी इतना स्वल्पतम था कि स्वस्थ मानव के एक ही श्वासोश्वास जितने समय में हम सभी के सभी सतरह-अठारह बार जन्म-मरण के कष्ट वहीं के वहीं सहते थे। वैसे असंख्य शरीर एक ही गोले में बन्द किये हुये थे। वह गोला भी इतना सूक्ष्मतम था कि उसके गमनागमन को कोई ठोस चीज भी नहीं रोक सकती थी, अतः उसे चर्म-चक्षु नहीं देख सकते। वैसे असंख्य गोले काजल की कुप्पी की तरह सारे विश्व में भरे हुये हैं। उस दशा में मुझे कभी भगवान के आसपास भटकने का मौका मिलता था, इतने पर भी योग्यता न होने के कारण मुझे भगवान के दर्शन न हो सके। फिर कभी मौका पाकर कन्द आदि बादर-निगोदियों की श्रेणी में मेरी भर्ती हुई। तब तो भगवान से मेरी अत्यन्त विशेष दूरी हो गई। वहाँ मुझे दूसरे देहधारी असीम काल तक तरह-तरह के कष्ट देते थे। बाद में कभी नाना प्रकार की पृथ्वी के तो कभी जल के, एवं कभी अग्नि के तो कभी वायु के असंख्य प्रकार के स्वाँगों में बहुत लम्बे अरसे तक मुझे रहना पड़ा कि जहाँ चराचर सभी देहधारियों ने अच्छी तरह से मेरी मिट्टी पलीत की। उस स्थिति में विधाता ने मेरे ललाट में प्रभु-दर्शन विषयक जरा सा भी लेख नहीं लिखा।

३. तदनन्तर अनाज, सब्जी, फल आदि प्रत्येक-वनस्पति के असंख्य स्वाँगों में खाँडना, पीसना, काटना आदि के द्वारा चलते फिरते देहधारियों ने सुदीर्घ काल तक मेरी बड़ी दुर्दशा की। उपरोक्त सभी शरीर केवल स्पर्शेन्द्रिय की व्यक्तता वाले थे।

फिर क्रमशः अलस आदि दो-इन्द्रियों वाले, चींटी आदि तीन-इन्द्रियों वाले और मक्खी आदि चार-इन्द्रियों वाले तरह-तरह के असंख्य स्वाँगों में मैंने अनेकानेक बार जन्म-मरण आदि त्रास सहे।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फिर कभी जल लकीर के समान क्षण-विनश्वर आयु वाले पशु-पक्षी के मल-मूत्र से उत्पन्न समूर्च्छिम मन रहित असंज्ञी तिर्यंच-पंचेन्द्रियों के स्वाँगों में भी मुझे अपार कष्ट सहने पड़े। पर इन सभी स्वाँगों में मैंने (दीदार=) देखादेखी के रूप में भी कभी भगवान को नहीं देखा। इस तरह उपरोक्त स्वाँगात्मक असंज्ञी-घाटी को किसी तरह पार करके मैंने संज्ञी-घाटो की ओर अपनी गति बढ़ाई कि जहाँ मन युक्त पाँचो ही इन्द्रियों वाले स्वाँग धारण किये जाते हैं।

४. असंज्ञी घाटी के सीमा प्रान्त में मानव-मलमूत्र से उत्पन्न समूर्च्छिम सूक्ष्म शरीर-रूप मन रहित मनुष्य (प्रतिभास=) आकृति वाले विविध स्वाँगों का ग्रहण-त्याग करते हुये बड़ी मुश्किल से उसे पार करके मैंने संज्ञी-घाटी की तराई में प्रवेश किया और वहाँ देखा तो सातों ही प्रकार के नारकों के स्वाँगों में जो जो कष्ट हैं उन्हें व्यक्त करने के लिए भी वाणी में क्षमता नहीं है। घाटी के मध्य विभाग में तिर्यंच पशु-पक्षियों के कष्टों की हालत तो प्रायः जग-जाहिर ही है। गर्भदशा में ही गलने वाले अपर्याप्ता पशु, पक्षी और मानव स्वाँगों में भी कोई कम कष्ट नहीं हैं। इन सभी स्वाँगों में भी पारावार कष्ट सहते हुये मैंने दीर्घ काल बिताया। फिर महान कष्टप्रद इन लम्बी घाटियों को किसी तरह पार करके सामान्य कष्ट-समरांगण में प्रवेश किया।

पर्याप्ता-गर्भज मनुष्यों में से अनार्य मानवों के सम्बन्ध वाले स्वाँगों में भी कई बार आया, पर वहाँ मुझे धर्म-अधर्म का विवेक नहीं था। इसी तरह कुदेव के स्वाँग भी बहुत बार धारण किये, पर वहाँ भी विषय वासना वश नाज-नखरे और खेल-कूद से मुझे फुरसत नहीं थी। इन सब कारणों से तब तक मुझे कोई निपुण सजीवनमूर्ति हाथ ही नहीं आये।

५. हे संगिनी! तुम निश्चित-रूप में जान लो कि उपर्युक्त ऐसे बहुत से स्थान हैं कि जहाँ जिनेन्द्र-देव के जैन दर्शन का भी दर्शन नहीं हो पाता, तब भला जिनदेव का दर्शन कैसे हो?

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सौभाग्य वश मुझ यह अपूर्व मानव-स्वाँग मिला कि जिसमें अपूर्व जैन दर्शन की वास्तविक उपलब्धि हुई, और तेरे सहारे बीज-कैवल्य दशा में प्रवेश करके अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त स्थिति भी प्राप्त कर ली, पर मार्ग के बीच में ही रुके रहना मुझे किसी तरह भी अभीष्ट नहीं, अतः तू या तो आगे का रास्ता दिखादे अथवा रास्ता दिखलाने वाले को मुझे मिला दे।

अनुभूति—हे अन्तरात्मा ! अब आगे का मार्ग और मार्ग-दर्शक के विषय में आगमों से तुम स्वयं जान कर अपने मन में निश्चित करलो और निर्मल भक्ति करो।

६. अजी ! तुम जानते ही हो कि पारमार्थिक दृष्टि से साध्य की सिद्धि के लिये आगमों में योगावञ्चक, क्रियावञ्चक और फलावञ्चक-रूप अवञ्चक-त्रयी को अनिवार्य बताया गया है।

जिनका कर्म-मल गल गया हो वैसे निष्काम साधु-पुरुष सजीवन मूर्ति का प्रत्यक्ष मिलना और शुद्ध मन वचन-काय से साधक का उनके चरणों में समर्पित हो जाना—यही अवञ्चक-गुरू का योग अवञ्चक है, क्योंकि गुरु यदि सकामी होगा तो वह परमार्थ की दुहाई देकर शिष्य को ठग लेगा; अतः वाञ्छापूर्ण गुरु के मिलने को वञ्चक योग कहा है जो कि मुमुक्षु के लिये अभीष्ठ नहीं है।

सद्गुरु की आज्ञानुसार शिष्य की मानसिक, वाचिक और कायिक शुद्ध प्रवृत्तियों द्वारा निष्काम-भक्ति का होना यही अवञ्च्छक शिष्य की भक्ति-क्रिया अवञ्चक है। यदि शिष्य के हृदय में कोई भी सांसारिक कामना है तो क्रिया भी तदनुसार कामनापूर्त्ति के लिये संसार मूलक होगी जो कि आत्म-वञ्चना है अतः वह मुमुक्षु के लिये अभीष्ठ नहीं है।

इस तरह योग-अवञ्चक द्वारा निमित्त को निमितकारणता और क्रिया-अवञ्चक द्वारा उपादान को उपादान कारणता मिल जाने पर पारमार्थिक कार्य सिद्धि-रूप क्रिया-फल भी अवञ्च्छक, अवञ्चक और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अबन्ध्य ही होता है। क्योंकि जसा कारण वैसा ही कार्य होता है। जिस क्रिया फल से मोक्ष तक की चाह और चतुर्गति-परिभ्रमण मिट जाता हो वह फल-अवञ्चक किवा अवञ्च्छक है।

७. हे अन्तरात्मा ! अपने को अवञ्चक-योग के रूप में प्रेरक-तत्व की अनिवार्यता है, और सर्वज्ञ श्री जिनेश्वर भगवान के प्रत्यक्ष योग के बिना उसकी पूर्ति का होना असंभव है, जबकि वैसे प्रत्यक्ष-योग का इस काल इस क्षेत्र में सर्वथा असम्भव है। अतः उस अवसर की प्रतीक्षा करना तुम्हारे लिये नितान्त आवश्यक है कि जिस अवसर में साक्षात् जिनेश्वर भगवान ही हमें प्रेरक-रूप में मिल जाँय। उनके चरण-शरण में जाकर उनका अनुसरण करने पर ही अपनी कार्य-सिद्धि होगी। क्योंकि आत्मानन्द से परिपुष्ट प्रभु चरण ही मनोवाच्छित पूर्ण करने के लिये मानो साक्षात् कल्पवृक्ष हैं। उनकी कृपा होने पर बड़ी सुगमता से अवशेष मोहनीय कर्म का क्षय भी हो जायगा और अपना सम्पूर्ण-कैवल्य-दशा का कार्य भी बन जायगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री सुविधि जिन स्तवन

(राग केदारो—इम धन्नो धण नै परचावै—ए देशी)

सुविधि जिनेसर पाय नमीनै, शुभ करणी इम कीजै रे।
अति घण उलट अंग धरीनै, प्रह ऊठी पूजीजै रे॥ सु० ॥१॥

द्रव्य भाव सुचि भाव धरी नै, हरखै देहरे जइये रे।
दह तिग पण अहिगम सांचवतां, एकमनां धुर थइये रे॥ सु० ॥२॥

कुसुम अक्खत वर वास सुगन्धी, धूप दीप मन साखी रे।
अँग पूजा पण भेद सुणी इम, गुरु मुख आगम भाखी रे॥ सु० ॥३॥

एहनूं फल दुइ भेद सुणीजै, अन्तर नै परम्पर रे।
आणा पालन चित्त प्रसत्ति, मुगति सुगति सुर-मन्दिर रे॥ सु० ॥४॥

फल अक्खत वर धूप पइवो, गंध निवेज फल जल भरि रे।
अंग अग्र पूजा मिलिअड विधि, भावे भविक शुभ गति वरि रे॥ सु० ॥५॥

सतर भेद इकबीस प्रकारे, अठ्ठोत्तर सत भेदे रे।
भाव पूजा बहु विधि निरधारी, दोहग दुरगत छेदे रे॥ सु० ॥६॥

तुरिय भेद पडिवत्ती पूजा, उपसम खीण सयोगी रे।
चउहा पूजा उत्तराझयणे, भाखी केवल भोगी रे॥ सु० ॥७॥

इम पूजा बहु भेद सुणीनै, सुखदायक सुभ करणी रे।
भविक जीव करसे ते लहसें, 'आनन्दघन' पद धरणी रे॥ सु० ॥८॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

९. श्री सुविधिनाथ स्तवनम्

अनुभव और आगम प्रमाण से मन्दिर और मूर्तिपूजा का रहस्य :

एकदा सन्त आनन्दघनजी के सान्निध्य में जिज्ञासु-मण्डल बैठा था। जिसमें से कितनेक जिज्ञासु मन्दिर और मूर्तिपूजा को उचित समझते थे, जब कि कितनेक अनुचित। प्रसंग वश उक्त विषय की ही उस मण्डल में चर्चा छिड़ गई। तब उस मण्डल के एक मध्यस्थ ने सबको शान्त और सावधान करते हुये सभी के समाधान के हेतु विनम्र होकर बाबाजी के साथ इस विषय में चर्चा करना शुरु किया।

जिज्ञासु—भगवन्। मन्दिर निर्माण और मूर्त्तिपूजा के पीछे क्या उद्देश्य है? कृपया आप आगम और अनुभव प्रमाण से उसके रहस्य पर प्रकाश डालिये।

आनन्दघनजी—मन्दिर एक आध्यात्मिक अभिनय प्रधान प्रयोग-शाला है। जिसका उद्देश्य घट मन्दिर में रहे हुये आत्मदेव का साक्षात्कार कराना है। उसमें मूर्त्तिपूजा के द्वारा मूर्त्तिमान को पूज्य बनाने वाले चित्त-शुद्धि पूर्वक के अन्तरंग अनुभव-क्रम का अभिनय बताया जाता है। क्योंकि अभिनय पूर्वक शिक्षा प्रचार जितना ठोस और हृदयंगम होता है उतना कोरी व्याख्यान-बाजी से नहीं हो पाता। अतएव ज्ञानी लोग इन आध्यात्मिक-साधनालयों को परापूर्व से महत्व देते चले आ रहे हैं, जो कि सर्वथा प्रामाणिक और अनुकरणीय है। अनुभव-प्रमाण से उसका रहस्य इस प्रकार है :—

यह मानव शरीर एक जिनालय के ही समान है। जैसे जिनालय केवल योग का ही साधन है, भोग का नहीं, वैसे ही मानव शरीर भी केवल योग का साधन है। जैसे मन, वचन और शरीर-रूप तीनों ही योग एवं अशुद्ध-उपयोग को जीत कर जिनेश्वर भगवान जिनालय में पूज्य-पद पर आरूढ़ हैं, वैसे ही मानव-देह स्थित आत्मा भी तीनों ही योग एवं अशुद्ध-उपयोग को जीत कर पूज्य परमात्म-पद पर आरुढ़ हो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता है और उसका यही कर्तव्य है। आत्म-साक्षात्कार के लिए शरीर को आसनस्थ रख कर मन, वाणी और दृष्टि को स्थिर करके चित्त-वृत्ति प्रवाह को बाहर से लौटाकर उसे ज्योंहि घट-मन्दिर में प्रवेशित कराते हैं त्योंहि अन्तरंग में घण्टा, शंख, नौबत आदि के रूप में अनेक प्रकार की दिव्य-अनाहत-ध्वनि सुनाई पड़ती है, जिसके प्रतीक रूप में मन्दिरों के आद्य-विभाग में घण्टा आदि दिखाये गये हैं। जैसे भगवान के दर्शन के लिये मन्दिर में प्रकाश अनिवार्य है, वैसे ही घट-मन्दिर में भी आत्म-देव के दर्शन के लिये चैतन्य प्रकाश अनिवार्य है, जिसके प्रतीक रूप में मन्दिरों में प्रभु-मूर्ति के सामने दीप-पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे सूर्य की किरणें पड़ते ही सूर्य विकाशी कमल खिल उठते हैं, वैसे ही घट-मन्दिर में आत्म सूर्य की चैतन्य रोशनी कामण-शरीरस्थ सहस्र-दल कमल आदि पर फैलते ही वे खिलने लगते हैं, जिसके प्रतीक रूप में प्रभु मूर्ति के सामने पुष्प पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे बाहरी खिले हुये कमलों में से सुगन्ध फैलती है, वैसे ही भीतरीय कमलों के खिलने पर दिव्य सुगन्ध फैलने लगती है, जिसके प्रतीक रूप में प्रभु मूर्ति के सामने चन्दन आदि गन्ध पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे सूर्य का आतप पहुँचते ही हिमालय के शिखरों पर से बर्फ पिघल कर (१) जल प्रवाह के रूप में बहने लगती है, वैसे ही आत्म सूर्य का ध्यान आतप पहुँचते ही सहस्र दल कमल की कर्णिका के उपरितन विभाग में रही हुई बर्फ सदृश मेरु शिखर वत् घट-मेरु शिखरस्थ सिद्ध-शिला की प्रतीक पाण्डु-शिला पिघल कर (२) प्रवाहित होती हुई चैतन्यमूर्ति का अभिषेक करती है, जिस रस को सुधारस कहते हैं, उसी के प्रतीक रूप में मन्दिरों में प्रभु मूर्ति के उपर जल-पूजा द्वारा अभिषेक का अभिनय किया जाता है। वह सुधारस अत्यन्त मधुर होता है अतः अभिषेक जल में क्वचित् मिसरी आदि पञ्चामृत मिलाने की प्रथा है। जैसे सूखी-गीली लकड़ियाँ जलने पर उनमें से धुँआ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निकलता है, वैसे ही घट में ब्रह्माग्नि के सुलगने पर सूखे गीले कर्म छिलके सर्वांग प्रज्ज्वलित होकर उसमें से निरन्तर धुँआ निकलता हुआ चैतन्य प्रकाश में नजर आता है, जिसके प्रतीक रूप में प्रभु-मूर्ति के सामने धूप-पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे छिलके उतर जाने पर अक्षत-चावल फिर से बोने पर भी नहीं उगते, वे ज्यों के त्यों अक्षत ही बने रहते हैं, जैसे ही कर्म-छिलके जलकर झड़ जाने पर चैतन्य-मूर्ति आत्मा जन्म-मरण रहित ज्यों की त्यों अक्षत ही बनी रहती है—इस अक्षत स्वभाव का भान कराने के लिए उसके प्रतीक रूप में प्रभु-मूर्ति के सामने अक्षत-पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे मन्दिर में नैवेद्य समर्पण करने पर भी प्रभु-मूर्ति उसे नहीं खाती, वैसे ही घट-मंदिर में नैवेद्य-खाद्य सामग्री समर्पण करने पर भी चैतन्य-मूर्ति आतमा उसे नहीं खाती-पीती, क्योंकि आत्मा अनाहारी है, इसकी खुराक जड़ नहीं हो सकता—इस अनाहारी स्वभाव का भान कराने के लिये इसके प्रतीक-रुप में प्रभु-मूर्ति के सामने नैवेद्य-पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे मन्दिरों में फल चढ़ाने पर भी प्रभु-मूर्ति की उनमें आत्म-बुद्धि नहीं है, वैसे ही घट मन्दिर में कर्म-फल रूप शाता-अशाता के उदय आने पर भी आत्म-देव को उनमें आत्म-बुद्धि न रखकर सदैव हर्ष-शोक रहित समरस रहना चाहिए। इस कर्म-फल त्याग के प्रतीक रूप में प्रभु-मूर्ति के आगे फल-पूजा का अभिनय किया जाता है।

इस तरह अन्तर्मुख उपयोग द्वारा स्वरूप-लक्ष को साधते हुए उपरोक्त आठों ही प्रकार की पूजन-विधि के सतत अभ्यास से देहाध्यास छूटकर आत्म-साक्षात्कार होता है, और आत्म-साक्षात्कार होने पर क्रमशः भव-दुख रूप आर्ति उतरने लगती है।

जैसे दोनों रोशनदान, खिड़की, दरवाजा और चारदिवारी—इन पाँचो ही आवरणों से उत्पन्न कैदी की आर्त्ति-आकुलता क्रमशः आवरणों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के हट जाने पर मिट जाती है, वैसे ही मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानावरण—इन पाँचों ही आवरणों से उत्पन्न घट-मन्दिर के कैदी आत्म-देव की आर्त्ति क्रमशः पाँचों ही आवरणों के हट जाने पर उतर जाती है—मिट जाती है ; जिसके प्रतीक रूप में प्रभु-मूर्ति के सामने निरावरण पञ्चज्ञानज्योति सूचक पाँच दिया जलाकर आरती उतारने का अभिनय किया जाता है। जैसे रोशनदान आदि पाँच आवरण सापेक्ष सूर्य के प्रकाश-भेद, सूर्य की निरावरण दशा में न रह कर केवल अभेद ज्योति ही जगमगाने लगती है, वैसे ही मतिज्ञानावरण आदि पाँच आवरण सापेक्ष आत्मा के ज्ञान-प्रकाश-भेद आत्मा की निरावरण दशा में न रहकर, केवल अभेद आत्म-ज्योति जगमगाने लगती है जिसे सम्पूर्ण केवलज्ञान कहते हैं। जो मं-अहम्-मम को गलाने वाला मंगल स्वरूप होने के कारण उसके प्रतीक रूप में प्रभु-मूर्ति के सामने मंगल-दीपक का अभिनय किया जाता है।

जैसे लट्टू स्थित बिजली की आकृति लट्टू के ही आकार में परिणत होती है, वैसे ही मानवदेह-रूप लट्टू स्थित निरावरण सहजात्म-स्वरूप केवल चैतन्यमूर्ति की आकृति भी केवल मानव शरीराकार मात्र परिणत होती है, पर शरीर के उपर के वस्त्र आभूषण और शस्त्र आदि के आकार में वह परिणत नहीं होती। इसीलिए जिनालयों में जिनेश्वर-दशा प्रधान केवल चैतन्य-मूर्ति के ही प्रतीक-रूप में वस्त्रालंकार और शस्त्र आदि से रहित मात्र अनुभव-परिमाण पुरुषाकार प्रभु-मूर्ति ही अभीष्ट है, अतः उस दशा में ही उसमें पूज्य-बुद्धि प्रतिष्ठित करके उपरोक्त पूजन-क्रम का अभिनय किया जाता है। जिन्हें अकृत्रिम ज्ञान नेत्र और परिपूर्ण-आत्मसुख प्रकट हो चुके हैं, उन्हें कृत्रिम बाह्यनेत्र और कौपीन, कँदौरा आदि लगाना तो केवल जिनेश्वर दशा का उपहास करना मात्र है। जिनालयों में प्रतिष्ठित केवल चैतन्य अनुभव-परिमाण पुरुषाकार जिनप्रतिमावत् घट मन्दिर में प्रतिष्ठित केवल चैतन्य-अनुभव-परिमित पुरुषाकार निज-प्रतिमा का सर्वाङ्ग

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन, पूजन और ध्यान करने पर क्रमशः सर्वांग कर्म-निर्जरा होकर सर्वांग आत्मशुद्धि और आत्मसिद्धि होती है। अतः इस कार्य में जिन प्रतिमा और उसका दर्शन-पूजन पुष्ट निमित्त कारण है। आत्मशुद्धि-कार्य सम्पन्न होने के पूर्व ही इस निमित्त-कारण को खण्डित करने पर उपादान में उपादान-कारणता ही नहीं आती और उपादान कारण के बिना कार्य-सिद्धि कैसे होगी ? वास्तव में यह जिन-दर्शन-पूजन तो निज-दर्शन-पूजन ही है, क्योंकि इसके अबलम्बन से निज आत्मा ही जिन आत्मा-परमात्मा बन जाता हैं अतः साधकीय जीवन में उसका आदर होना नितान्त आवश्यक है। इतने पर भी मूढ़तावश यदि कोई उसका उपहास करे तो उपहासक की निजी आत्म-शुद्धि का ही वह उपहास हो कर निज का अकल्याण होता है—जो भयंकर भूल है। इस भूल को सुधार कर आत्म-कल्याण के उपायों में लगा रहना ही मानव जीवन का कर्त्तव्य है।

अपने आत्म-कल्याण के उपायों में से यद्यपि सामायिक आदि छह आवश्यक कर्तव्य मुख्य हैं, पर चित्त शुद्धि के बिना केवल वाणी और शरीर से एक भी आवश्यक नहीं सधता। जबकि चित्त-शुद्धि तो स्वरूप-नैष्ठिक आत्मानुभवी सद्गुरू से जिन-दशा का स्वरुप समझ कर सद्-गुरू-आज्ञानुसार उसकी उपासना किये बिना हो नहीं सकती। और जिनदशा की उपासना तो जब तक मन स्थिर न हो जाय तब तक जिनमुद्रा के दर्शन, पूजन स्मरण आदि के बिना अन्य प्रकार से शक्य नहीं। तब भला ! जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ तब तक यह शुभ क्रिया क्यों उत्थापी जा रही है ? इसका उत्थापन करना तो मानो अनन्तानुबन्धी कषाय को उत्तेजन देकर अनन्त संसार ही बढ़ाना है और कुछ नहीं।

जैसे वर्षाकाल में जल-कीच आदि को खूंदते हुए षट्काय जीवों की विराधना होने पर भी मुनि-वन्दन के लिए जाने-आने और वन्दन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया करने में श्रावकों को तथा आहार, निहार और विहार आदि के हेतु साधुओं की सावद्य-क्रिया जन्य पाप अपरिहार्य माना गया है क्योंकि पारिणामिक शुद्धि की हेतु होने से वैसी क्रियाओं की जिनाज्ञा है ; वैसे ही जिनालयों में प्रभु दर्शन-पूजन आदि में सावद्य-क्रिया जन्य पाप अपरिहार्य है, क्योंकि पारिणामिक शुद्धि के लिए इन क्रियाओं की भी जिनागमों में जिनाज्ञा है। अतः हे भव्यो ! जिनाज्ञा को ठुकरा कर उपरोक्त शुभ-करनी से मुंह मत मोड़ो, प्रत्युत शरीर, संसार और भोग रूप अशुभ-करनी से बचने के लिए जब तक स्वरूप-स्थिरता न हो जाय तब तक नित्य नियमित-रूप से शुभ-करनी करो।

जिज्ञासु—हमारे प्रश्न के समाधान-रूप में आपने जो भी फरमाया, वह अक्षरशः बुद्धि में उतरकर आत्मा में स्पर्श करता है अतः यथार्थ है। हमें इस विषय में ऐसा अनुभवपूर्ण हृदयंगम समाधान कहीं से भी नहीं मिला था अतः अब तक भ्रम में ही थे, जिस भ्रम को आज आपश्री के टंकशाली प्रवचन ने जड़ से ही मिटा दिया। हे कारूण्यमूर्ते ! आपके इस उपकार को हम कभी भी नहीं भुला सकेंगे। हे सद्गुरो ! आज से हम सभी को आपका ही शरण हो। अब कृपा करके शुभ-करणीमूलक प्रभु-पूजन के विधि-विधान पर थोड़ा सा प्रकाश डालिये, क्योंकि उससे हम अनभिज्ञ हैं।

१. सन्त आनन्दघनजी—हे सुबुद्धि ! प्रातः काल द्रव्य निद्रा से जगते ही भाव निद्रा से मुक्त होने के लिए इस नीचे बताई जाने वाली सम्यक्-विधि से आत्म-वैभव द्वारा अपनी शोभा बढ़ाने वाली शोभन क्रिया करनी चाहिए।

प्रथम अपने हृदय कमल को सुलटा कर उस पर रागादि शत्रुओं को जीतनेवाले सम्पूर्ण आत्मैश्वर्य युक्त सम्यक् विधि प्रदर्शक श्री सुविधि जिनेश्वर भगवान की चैतन्यमूर्ति को स्थापन करके शरीर में सातों ही धातुओं के भेदन पूर्वक अत्यधिक उल्लासभाव को धारण करते हुए

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिन चरणों में नमस्कार करके अपनी आत्मा को पूज्यता प्रदान करने वाली जिनेश्वरों की पूजा-अर्चा का उद्यम करना चाहिए।

२/६. शौच आदि बाधाओं से निवृत होकर अचित्त निर्मल जल से स्नान करके अखण्ड शुद्ध धोती और एकवड़ा उत्तरीय वस्त्र (१) परिधान पूर्वक द्रव्य शुद्धि एवं आर्त्त-रौद्र परिणति का परित्याग तथा धर्म-ध्यान परिणति के परिग्रहण पूर्वक भावशुद्धि से अचित (२) शुद्ध सात्विक पूजन सामग्री लेकर अत्यन्त हर्षित आत्म-भाव से जिनमन्दिर जाना चाहिए।

राजा, आमात्य और नगर श्रेष्ठि प्रमुख सत्ता और वैभव सम्पन्न व्यक्तियों को धार्मिक प्रभावना के हेतु महोत्सव पूर्वक तथा सामान्य जनता को अपने उचित ढ़ंग से जिनालय जाते हुए जिनमन्दिर को देखते ही वाहन से उतर कर एकाग्रचित्त (३) से अर्द्धविनत प्रणाम (४) करके सकल गृह-व्यवहार के परित्याग सूचक 'निसीही' शब्दोच्चारण पूर्वक जिनालय के सीमाद्वार में प्रवेश करना चाहिए। तदनन्तर छत्र, चामर, मुकुट, खड़ग, पादुका आदि राजचिन्ह और स्व-शरीरपभोग्य पुष्पमाला आदि सचित्त-वस्तुओं (५) का परित्याग करना चाहिए। इस तरह पाँच प्रकार से वीतराग दशा का अभिगम-आदर करना मुमुक्षु के लिए नितांत आवश्यक है।

जिनालय के परिक्रमा-विभाग में पहुँचने पर जिन-बिम्ब के चारों ओर तीन-तीन आवर्त्त युक्त अर्द्धावनत-नमस्कार करते हुए त्रिधा प्रणाम प्रर्वक रत्नत्रय-प्रवृत्ति की उपादेयता सूचक प्रदक्षिणा-त्रिक (१) दक्षिणावर्त्त से करके मन्दिर-व्यवस्था और स्वधर्मी-शिष्टाचार के भी त्याग सूचक पुनः 'निसीहि' शब्दोच्चारण करते हुये जिनालय-प्रवेश करना चाहिये। और प्रभु सन्मुख माँगलिक स्तुति-स्तोत्र पढ़ कर पदभूमि के त्रिधा प्रमार्जन (२) पूर्वक त्रिधा पञ्चांगी प्रणिपात (३) करना चाहिये। तदनन्तर पञ्चोपचार अष्टोपचार किंवा सर्वोपचार से द्रव्य-पूजन करना चाहिये।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य से पूजात्रिक—

पंचोवयार जुत्ता, पूया अट्ठोवयार कलिया य।
इड्ढिविसेसेण पुणो, भणिया सव्वोवयारा वि॥ २०९॥
तहियं पंचुवयारा-कुसुम-उक्खय-गंध-धूप-दीवेहिं।
फल-जल-नेवज्जेहिं, सह ऽट्ठुरूवा भवे सा उ॥ २१०॥
सव्वोवयार जुत्ता, ण्हाण-ऽच्चण-नट्ट-गीयमाईहिं।
पव्वाइएसु कीरइ, निच्चं वा इड्ढिमंतेहिं॥ २१२॥

—शान्तिसूरि विरचित चैत्यवन्दन महाभाष्ये।

द्रव्य से पूजात्रिक का आगम-कथित रहस्य हमने श्री सद्गुरु मुख से निम्न प्रकार सुना है :—

अंग पूजा—जिसने पूजन किये बिना भोजन-त्याग की प्रतिज्ञा अंगीकृत कर ली है और सफर में जिनालय का अभाव है तो उसके लिये अपने नियम के प्रतिपालन के हेतु ऐसी विधि है कि वह स्वयं अपने अंग अर्थात् हाथों ही शुद्ध मिट्टी आदि की तात्कालिकी जिन-प्रतिमा बनावे और पुष्प, अक्षत, सुगन्धित वासचूर्ण, धूप और दीपक—इन पाँच प्रकार के उत्तम द्रव्यों से पञ्चोपचारी ही जिन-पूजन करे क्योंकि मृन्मय मूर्त्ति के उपर जलाभिषेक आदि नहीं हो सकता। पूजन के बाद विसर्जन विधि से वह बिम्ब जलाशय में विसर्जन कर दे।

अग्रपूजा—अग्र प्रथमतः प्रतिष्ठित धातु, रत्न, काष्ठ किंवा पाषाण आदि की जिन प्रतिमा की पूजन विधि तो पुष्प, अक्षत, धूप, दीपक, चन्दन आदि गन्ध नैवेद्य फल और जल—ये सब मिलाकर आठ प्रकार के उत्तम द्रव्यों से ही करनी चाहिए।

सर्वोपचार पूजा—जन साधारण के लिये पर्व-दिवसों में और ऋद्धिमानों के लिये नित्य अष्ट द्रव्यों के उपरान्त नृत्य, संगीत आदि के विस्तार पूर्वक जिनपूजन करना चाहिये। इस पूजा के १७, २१, १०८ आदि अनेक प्रकार हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में यह सर्वोपचार पूजा प्रथमतः प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा की ही होती है अतः इसका यहाँ अग्रपूजा में ही समावेश है।

द्रव्य पूजा के प्रारम्भ में सर्व प्रथम एकाग्रचित्त से जिनप्रतिमा को स्थापना-मेरु के पाण्डुशिला-स्थित सिंहासन ऊपर अतीव आदर पूर्वक विराजमान करना चाहिये। फिर अपने हृदय कमल पर चैतन्य भाव का कुम्भक करके वहाँ से अपनी ज्ञायक-सत्ता का रेचक पवन द्वारा ब्रह्म-रंध्र से आह्वाननी-मुद्रा पूर्वक जिन प्रतिमा में आह्वान करके और फिर क्रमशः स्थापनी तथ सन्निधापनी मुद्रा द्वारा उसका वहीं स्थापन और सन्निधिकरन करना चाहिये। फिर प्रभु-मूर्ति में भगवान की च्यवन और जन्म कालीन क्षायिक-सम्यक्त्व-प्रधान ज्ञानदशा का उद्भावन करके अपनी दर्शन-विशुद्धि के हेतु स्वरूपानुसन्धान पूर्वक शक्रेन्द्र वत् द्रव्य-पूजन-क्रम निम्न बातों को ध्यान में रख कर ही शुरु करना चाहिये।

पूजन के समय अपनी दृष्टि प्रभु में इतनी तल्लीन हो जानी चाहिये कि जिससे अपनी उपर, नीचे और तीरछे (त्रिदिशि निरीक्षण विरति) (१) किंवा दायीं, बांयी और पीछे की ओर कौन है उसका अपने पता ही न चले; (२) और वैसी ही मानसिक, वाचिक एवं कायिक एकाग्रता (प्रणिधान त्रिक ५) बनी रहे। तथा पूजन पाठ पढ़ते हुये यथास्थान योग, जिन, और मुक्ताशुक्ति—इस मुद्रात्रिक (६) पूर्वक शब्द और अर्थ द्वारा जिनदशा का अवलम्बन (वर्णत्रिक ७) जरा-सा भी न छूटे।

अंग-अग्र-रूप द्रव्य पूजा की परिसमाप्ति होने पर जन्म-कल्याणक प्रत्ययी सर्वोपचार पूजा विधि से जो प्रभु को मुकुट, कुण्डल, आदि अलंकारों से अलंकृत किया गया था, वे सभी के सभी अलंकार आदि दूर करके द्रव्य पूजा के त्याग सूचक तृतीय 'निसीहि' (८) शब्दोच्चार करके प्रभु मूर्ति में तपस्वी छद्मस्थ मुनिदशा, कैवल्य दशा और सिद्ध दशा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप अवस्था त्रिक (९) का उद्भावन करके भाव-पूजन में प्रवेश करके (१०) पूजा त्रिक की पूर्ति करनी चाहिये। इस तरह यह दसत्रिक* का समाचरण समाचरणीय है।

* तिन्नि निसीही तिन्नि य, पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा।
तिविहा पूआ य तहा, अवत्थतिय भावणं चेव॥ १८०॥
ति दिसि निरक्खण विरई, पयभूमि पमज्जणं च तिक्खुत्तो।
वन्नाइ तियं मुद्दातियं च, तिविहं च पणिहाणं॥ १८१॥
—श्री शान्ति सूरि विरचित चैत्यवन्दन महाभाष्ये।

भाव पूजा के अवसर में भी प्रभु पर अलंकार आदि स्थायी बनाये रखने का आग्रह देव मूलक मताग्रह है—सत्याग्रह नहीं, अतः मुमुक्षु के लिए वह हेय है।

इस द्रव्य पूजा का फल दो प्रकार का श्री गुरुमुख से हमें सुनने में आया है—एक अनन्तरफल और दूसरा परंपर-फल। जिसे सौभाग्यवश सद्गुरु आज्ञा हाथ चढ़ गई, उसे तो मानो सब कुछ सिद्ध हो चुका। क्योंकि "आणाए तवो, आणाए संयमो" —ऐसा आज्ञा माहात्म्य जिनवाणी में जगह-जगह बताया गया है। और यह बात है भी सही, क्योंकि सच्चाई पूर्वक आज्ञाधीन साधना से चित्त-शुद्धि होकर ही रहती है। अतः प्रभु भक्ति द्वारा आज्ञा के निरन्तर प्रति-पालन से चित्त शुद्धि का निरन्तर होते रहना यह अनन्तरफल हैं; और क्रमशः परिपूर्ण चित्त शुद्धि होने पर सिद्धगति अथवा अपूर्ण चित्तशुद्धि होने पर उत्तम देव गति की प्राप्ति-परम्पर फल है। अतः हे भव्यों! भ्रम छोड़ कर विशुद्ध भाव से निरन्तर जिन पूजन करके उत्तम गति को प्राप्त करो। अधिक क्या कहूँ? अब तीसरी भाव पूजा का रहस्य सुनिये :—

भाव पूजा—नय, प्रमाण, निक्षेप आदि द्वारा षट्-द्रव्य, नवतत्व आदि अनेक प्रकार की सुविचार श्रेणियों से स्व-समय और पर-समय

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का परीक्षण करके हेय, ज्ञेय और उपादेय के विवेक पूवक पर द्रव्य पर-भाव और उनके निमित्त से उत्पन्न होने वाले अपने सभी विभावों से मुँह मोड़ कर निज अनुभव परिमाण स्वभाव में स्थिति करना— यही भाव पूजा है; और स्वभाव स्थिति तो तभी सम्भव है जब कि द्रव्य पूजा प्रभृति प्रभु भक्ति द्वारा भाव-विशुद्धि करके चित्तशुद्धि की जाय। ज्यों-ज्यों द्रव्य-पूजा में तन्मयता होती है त्यों-त्यों भाव-विशुद्धि होती है; और ज्यों-ज्यों भाव-विशुद्धि सधती है त्यों-त्यों चित्त-शुद्धि अर्थात् ज्ञान की निर्मलता सधती है। अतः भाव-पूजा में द्रव्य-पूजा पुष्ट निमित्त कारण ही है। प्रभु के साकार स्वरूप को लक्ष्य बनाकर सहजात्म-स्वरूप की स्मृति दिलाने वाली मंत्र-स्मरणधारा को अखण्ड बनाये रखना—यह तो द्रव्य पूजा की पीठिका मात्र है। और उस लक्ष्य के लक्ष के लिए जिनमुद्रा अनिवार्य है क्योंकि जैसे स्व-स्वरूप को समझने के लिये जिनवाणी अनन्य निमित्तकारण है, वैसे ही स्वरूप प्राप्ति के लिये जिनमुद्रा अनन्य निमित्त कारण है। जैसे जिनवाणी साक्षात् नहीं, स्थापना मात्र है फिर भी वह स्वस्वरूप समझने में उपकारी हो सकती है; वैसे ही जिनमुद्रा साक्षात् नहीं, स्थापना मात्र हो, तो भी वह स्वस्वरूप-प्राप्ति में उपकारी ही हो सकती है। अतः भाव-पूजा के लिये द्रव्य पूजा नितान्त आवश्यक है। क्योंकि द्रव्यपूजा द्वारा भावपूजा सधने पर स्वस्वरूप की अप्राप्ति-रूप दुर्भाग्य से उत्पन्न जन्म-मरण-परम्परा मूलक चारों ही गतियों का परिभ्रमण मिट जाता है।

पूजन की परिसमाप्ति के अवसर में क्रमशः अस्त्र और विसर्जनी मुद्रा पूर्वक प्रभु-प्रतिमा में स्थापित स्व-ज्ञायक-सत्ता उत्थापन करके उसे ब्रह्मरंध्र मार्ग से पूरक पवन द्वारा अपने हृदय कमल में पुनः स्थापन कर देना चाहिये; और जिन बिम्ब भी वेदी पर सविधि स्थापन कर देना चाहिये।

७. पूजन का चौथा भेद प्रतिपत्ति-पूजा है, जिसका रहस्य निम्न प्रकार है :—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्तिपत्तिपूजा—भाव पूजा से ज्यों-ज्यों स्वभाव-स्थिति सधती जाती है, त्यों-त्यों स्वस्वरूप की स्वतन्त्रता में बाधक घाती-कर्म-मल का उपशमन किंवा क्षय एवं अघाती कर्मों की परिक्षीणता तथा अभाव होता जाता है, और तदनुसार स्वस्वरूप की प्रतिपत्ति अर्थात् प्राप्ति भी होती जाती है—जिसे प्रतिपत्ति पूजा कहते हैं। इसके तीन भेद हैं :—

१. घातीकर्ममल के सर्वथा उपशमन से होने वाली स्वस्वरूप प्राप्ति कि जो उपशम श्रेणि-आरूढ़ को ग्यारहवें गुणस्थान में होती है।

२. घातीकर्ममल के सर्वथा क्षय से होने वाली स्वस्वरूप-प्राप्ति कि जो क्षपक श्रेणि-आरूढ़ को बारहवें गुणस्थान में होती है।

३. अवशेष केवल अघाती-कर्मों से टिके हुए द्रव्य-मन, वचन और काययोगों की अवस्थिति में अनुभव में आनेवाली स्वस्वरूप प्राप्ति कि जो सम्पूर्ण कैवल्यदशा प्रधान तेरहवें गुणस्थान में होती है।

इस प्रकार यह समस्त पूजा-विधान-रहस्य श्री केवलज्ञानियों ने बताया था, जिसे श्री गणधरों ने उत्तराध्ययन-सूत्र में संकलित किया था पर काल-दोष से विसर्जन हो गया।

८. इस तरह पूजा के बहुत-से भेद और रहस्य को गुरुगम पूर्वक सुनकर जो भव्य जीव यह सुखदायक शुभक्रिया-रूप प्रभुपूजन करेगा, वह परिपूर्ण पुष्ट आत्मानन्द युक्त पूज्य परमात्म-पद पर आरूढ़ होकर जन्म-मरण से मुक्त सिद्ध लोक में स्थिर हो जाएगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री शीतल जिन स्तवन

(राग—धन्याश्री गौडी-गुणह विसाला मंगलिकमाला—ए देशी)

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगि मन मोहे रे ।
करुणा कोमलता तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ।। शी० ।।१।।

सर्व जीव हित करणी करुणा, कर्म विदारण तीक्षण रे ।
हानादान रहित परणामी, उदासीनता वीक्षण रे ।। शी० ।।२।।

परदुख छेदन इच्छा करुणा, तीक्षण पर दुख रीझे रे ।
उदासीनता उभय विलक्षण, एक ठामि किम सीझे रे ।। शी० ।।३।।

अभय दान ते मलक्षय करुणा, तीक्षणता गुण भावे रे ।
प्रेरण विण कृत उदासीनता, इम विरोध मति नावे रे ।। शी० ।।४।।

शक्ति व्यक्ती त्रिभुवन प्रभुता, निर्ग्रंथता सयोगे रे ।
योगी भोगी वक्ता मौनी, अनुपयोगि उपयोगे रे ।। शी० ।।५।।

इत्यादिक बहुभंग त्रिभंगी, चमत्कार चित देती रे ।
अचरज कारी चित्र विचित्रा, 'आनन्दघन' पद लेती रे । शी० ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१०. श्री शीतल जिन-स्तवनम्

अनेकान्तवाद तो समन्वयवाद है—संशयवाद नहीं :

एकदा सन्त आनन्दघनजी की अवधूत आत्मदशा और अथाह विद्वता को सुनकर उनके सत्संग में विभिन्न सम्प्रदाय के दार्शनिक विद्वान मिल कर आये। उनमें से एक नामांकित विद्वान ने प्रसंगोपात दार्शनिक चर्चा छेड़ दी।

पंडित—बाबा! तीर्थङ्करों का अनेकान्तवाद तो एक ही तत्व में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों को बताकर के संशय ही पैदा करा देता है, पर तत्त्व निर्णय नहीं करा पाता, अतः उसे संशयवाद कहना क्या अन्याय है?

सन्त आनन्दघनजी—सुज्ञ महाशय! अनेकान्तवाद तो केवल समन्वयवाद है—संशयवाद नहीं पर उसका वास्तविक रहस्य समझे बिना ही उसे संशयवाद कह देना, यह तो अपनी समझ का ही अपराध है।

अनेकान्तवाद का रहस्य इस प्रकार है :—

अमुक विवक्षित वस्तु के प्रति जबकि परस्पर विरोधी धार्मिक दृष्टि भेद देखने में आते हों, तब उन सभी दृष्टि भेदों का समन्वय करके उनमें से वास्तविक दृष्टि भेदों को उचित स्थान देकर विरोध को मिटा देना ही अनेकान्तवाद किंवा स्याद्वाद है। वास्तव में इसी के माध्यम से सर्वाङ्गीण तत्व निर्णय हो कर धर्म-कलह का शमन होता है, जिसके फलस्वरूप जिज्ञासुओं को मध्यस्थता और समरसता की अनुभूति होती है।

वस्तु के स्वरूप को दिखलाने वाली वाक्य-रचना मूलतः त्रिभंगी-रूप में होती है। जैसे कि आप तत्त्व-सामान्य की दृष्टि से नित्य हैं और तत्त्व की अवस्था विशेष की दृष्टि से अनित्य हैं, पर तत्त्व-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य की दृष्टि से अनित्य नहीं हैं और अवस्था-विशेष की दृष्टि से नित्य नहीं है। इसी तरह आप नित्य, अनित्य आदि शब्द द्वारा तत्त्-द्रूप में प्रतिपाद्य होने पर भी समग्र-रूप में किसी एक ही शब्द द्वारा कहे नहीं जा सकते अतः अवक्तव्य हैं। फलतः आप (१) कथंचित हैं, (२) कथंचित नहीं है और (३) कथंचित अवक्तव्य हैं—यह संशय नहीं प्रत्युत निश्चित बात है।

विरोधी वादों की समीकरण-भावना ही इस त्रिभंगी की प्रेरक है और वस्तु के स्वरूप का सर्वांगी परीक्षण करके यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना—यही इस त्रिभंगी का साध्य है।

बुद्धि में प्रतिभासित वस्तु के किसी भी धर्म के प्रति मूलतः (१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति और (३) स्यादवक्तव्य—इन तीनों विकल्पों का ही सम्भव है और चाहे जितने शाब्दिक परिवर्तन से उनकी संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय तो भी इन तीन भंगों की पार-स्परिक संयोजना से उत्पन्न (४) स्यादस्तिनास्ति (५) स्यांदस्ति अवक्तव्य (६) स्यान्नास्ति-अवक्तव्य और (७) स्यादस्तिनास्ति युग पद-वक्तव्य—इन चार भंगो को मिलाकर कुल सप्तभंग ही हो सकते हैं, अधिक नहीं, अतः इसी का दूसरा नाम सप्तभंगी भी है। तीर्थङ्करो का यह त्रिभंगी किंवा सप्तभंगी स्याद्वाद-न्याय अनुपम-सत्य है, फिर भी अपनी समझ के अपराध वश उसे संशयवाद कह देना—यह तो सत्य पर ही अन्याय करना है।

१. पण्डित—ओहो ? आत्मा को वस्तु-स्थिति का सत्य-समाधान देकर वास्तविक शीतलता-शान्ति प्रदान करने वाला शीतल-जिननाथ का यह विविध भंग युक्त त्रिभंगी-न्याय अत्यन्त सुन्दर है, यह तो हमारे मन को भी मोह लेता है। इसकी खरी-खूबी का तो हमें भान ही नहीं था, अतः इस ओर हमारी कटाक्ष बुद्धि रही। भगवन्! हमारे इस अपराध की हम सच्चाई से क्षमा चाहते हैं। वास्तव में तीर्थङ्करों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ने इस अनुपम न्याय का प्रतिपादन करके जनता का बड़ा उपकार किया है। उनकी इस निष्कारण करुणा को हम हृदय से अभिनन्दन देते हैं।

अब हम इस वीतरागी-त्रिभंगी न्याय को इसके जन्मदाता वीतरागों पर ही घटा कर समझना चाहते हैं—जैसे कि सारे विश्व में त्राहि-त्राहि मच रही है, जिसे भगवान देखते भी हैं, और जानते भी हैं; जबकि वे योगीश अत्यन्त दयालु हैं और उनमें ऐसी अद्भुत शक्ति भी है कि यदि वे चाहें तो विश्व के चराचर प्राणी-मात्र का दुःख मिटा सकते हैं क्योंकि उनकी वैसी त्रिभुवन-प्रभुता मशहूर है, फिर भी वे मौन क्यों? इस वाक्य के अनुसार वीतराग भगवान में करुणा अर्थात् कोमलता (१) कथंचित है (२) कथंचित नहीं है अर्थात् कठोरता है, और फिर भी वे कोमल हैं या कठोर—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वीतराग तो उदासीनता से ही अलंकृत हैं अतः वे (३) अवक्तव्य हैं।

३. यहाँ—दूसरों के दुखों को मिटाने की इच्छा-रूप करुणा, दूसरों को दुख देकर खुशी मनाने-रूप क्रूरता और इन दोनों लक्षणों से रहित विलक्षण उदासीनता—इन तीनों ही धर्मों का परस्पर अत्यन्त विरोध है, फिर भी वे एक ही स्थान में अविरोध-रुप से कैसे सिद्ध हो सकते हैं? कृपया इनका परस्पर समन्वय करके दिखाइये।

२. सन्त आनन्दघनजी—वीतराग भगवान में करुणा (१) कथंचित है और (२) कथंचित नहीं भी है, क्योंकि विश्व के चराचर समस्त प्राणियों के हित के लिये उन पर तो वह है, किन्तु राग, द्वेष और अज्ञान आदि कुकर्मों पर वह नहीं है। कुकर्मों को आत्मा से अलग करने के लिये तो भगवान में अत्यन्त क्रूरता ही है। इतने पर भी भगवान की पर-प्राणी-मात्र के प्रति न तो इष्ट बुद्धि है और न पर-जड़ कर्मों के प्रति अनिष्ट बुद्धि है, क्योंकि उन्हें पर चेतन-सृष्टि को

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ देना नहीं है और जड़-सृष्टि से कुछ लेना नहीं है। इसीलिए उनके परिणामों में त्याग ग्रहण रहित केवल उदासीनता ही चमक रही है। इस दृष्टि से भगवान में करूणा है या नहीं है ? जिसे समग्र रूप में एक शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता अतः वह (३) कथंचित अवक्तव्य है।

४. भगवान में उपर्युक्त करूणा और क्रूरता ये दोनों ही केवल स्वाभाविक गुण हैं, दोष नहीं। क्योंकि उनकी करूणा के फल-स्वरूप स्व-पर को अभयदान मिलता है और क्रूरता के फल-स्वरूप स्व-पर के आत्मैश्वर्य में बाधक घाती-कर्म-मल दूर हो जाता है। ऐसा होने पर भी इन दोनों क्रियाओं में कतृत्व-बुद्धि पूर्वक प्रेरणा न होने से भगवान की उदासीनता अभंग ही बनी रहती है। इस प्रकार गहराई से देखने पर वीतराग भगवान में करूणा, क्रूरता और उदासीनता तीनों ही धर्म एक साथ रहने पर भी प्रत्येक धर्म का किसी दूसरे के साथ विरोध सिद्ध नहीं होता—ऐसा आप अपने मन में निश्चित-रूप से समझिये।

५. इसी तरह आपने भगवान के जितने विशेषण कहे, वे सभी उनकी सयोगी कैवल्य-दशा में घटित होते हैं; और उन सभी पर यह त्रिभंगी-न्याय भी घटित हो सकता है। जैसे कि :—

(१) ज्ञानावरण और दर्शनावरण से सर्वथा मुक्त, सम्पूर्ण, शुद्ध और अखण्ड ज्ञान-दर्शन भगवान में प्रकट है; अतः उत्पाद, व्यय और ध्रूवता रूप त्रिविध त्रिकालिक वर्तना युक्त विश्व के समस्त पदार्थों को वे प्रति समय साक्षात् देख-जान सकते हैं, पर उस प्रकार देखने-जानने में उनकी सर्वज्ञता के कारण कथंचित् उपयोग है और कैवल्यता-आत्मज्ञता के कारण कथंचित् उपयोग नहीं है। इतने पर भी चेतना तरंग के प्रयोग-कर्त्तृत्व से सर्वथा उदासीन होने के कारण वे उस प्रकार उपयोगी हैं या अनुपयोगी ? जिसे समग्र-रूप में एक शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, अतः वे कथंचित-अवक्तव्य हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) अपने शुभाशुभ-उपयोग-रूप चित्तवृत्ति प्रवार को सर्वथा मिटा देने के कारण भगवान कथंचित् महान योगी हैं, और कथंचित योगी नहीं, प्रत्युत महान भोगी हैं क्योंकि सम्पूर्ण स्वाधीन आत्मानन्द को निरन्तर भोगते ही रहते हैं। इतने पर भी मन-वचन-काय-रूप त्रियोग और भौतिक भोग विलास से अत्यन्त उदासीन होने के कारण वे योगी हैं या भोगी ? जिसे समग्र-रूप में एक शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता अतः वे कथंचित् अवक्तव्य हैं।

(३) स्वयं जन्म मरण आदि समस्त दुखों से परिमुक्त होने के कारण भगवान में विश्व भर के चराचर प्राणी मात्र के दुख मिटाने की शक्ति कथंचित है, और कथंचित नहीं भी है, क्योंकि सामर्थ्य की अव्यक्तदशा को शक्ति कहते हैं जबकि उनमें सामर्थ्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति हो चुकी है। फिर भी वे कर्तत्व-अभिमान-शून्य सर्वथा उदासीन होने के कारण उनमें वैसी शक्ति-व्यक्ति है या नहीं ? जिसे समग्र रूप में एक ही शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता अतः वह कथंचित् अवक्तव्य है।

(४) भगवान के चरणों में सत्ता और वैभव सम्पन्न देव-देवेन्द्र और नर-नरेन्द्र आदि सभी नतमस्तक रहते हैं, क्योंकि उन्होंने विश्व में सार के सार-भूत समस्त आत्म-वैभव को पा लिया है—अतः इस दृष्टि से भगवान में त्रिभुवन-प्रभुता कथंचित है; और कथंचित् नहीं भी है क्योंकि वे समस्त बाह्य भौतिक-वैभव एवं राग आदि समस्त आन्तरिक-विभाव-वैभव से सर्वथा विमुक्त निर्ग्रन्थ हैं, इतने पर भी उनमें त्रिभुवन-प्रभुता किंवा निर्ग्रन्थता है या नहीं है ? यह भी समग्र-रूप में एक शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे विश्व की प्रभुताई और निर्ग्रन्थता के चिन्ह से रहित केवल उदासीन हैं अतः उनमें वह कथंचित-अवक्तव्य है।

(५) भगवान कथंचित्-वक्ता हैं, क्योंकि भक्त समूह को बोध-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दान देते हैं, और कथंचित-वक्ता नहीं—मौनी हैं, क्योंकि वे भाषा-वर्गणा के ग्रहण-त्याग-रूप प्रयोग के कर्त्ता नहीं हैं ; इतने पर भी बोलने न-बोलने की इच्छा मात्र से मुक्त उदासीन होने से वे वक्ता हैं या मौनी ? इसे समग्र रूप में एक ही शब्द द्वारा व्यक्त किया नहीं जा सकता, अतः वे कथंचित् अवक्तव्य हैं ।

इस प्रकार उदासीनता के संयोग से उपयोगी-अनुपयोगी, योगी-भोगी, शक्ति-व्यक्ति, त्रिभुवन प्रभुता-निर्ग्रन्थता और वक्ता-मौनी —ये पाँचों ही त्रिभंगियाँ अविरोध-रूप में सिद्ध हो चुकीं ।

(६) इसी प्रकार के अन्य और भी परस्पर विरोध दिखलाने वाले द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि अनेक भंगो का पारस्परिक विरोध मिटाने वाला चमत्कार दिखा कर यह त्रिभंगी-न्याय चित्त को आश्चर्य-चकित और आनन्द-विभोर कर देता है एवं सर्वांगीण वास्तविक तत्त्व-समाधान के द्वारा सभी कल्पना-चित्रों से विचित्र-निर्विकल्प बनाकर आत्मा को पुष्ट ज्ञानानन्द युक्त सिद्ध-पद प्रदान करके सभी न्यायों में प्रधान-पद ले लेता है ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री श्रेयांस जिन स्तवन

(राग-गौडी—अहो मतवाले सजना—ए देशी)

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुगति गति गामी रे ।। श्री श्रे० ।।१।।

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे।
मुख्य पणे जे आतमरामी, ते केवल निक्कामी रे ।। श्री श्रे० ।।२।।

नजि सरुप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहिये रे।
जेकिरिये करि चउ गति साधै, ते न अध्यातम कहिये रे ।। श्री श्रे० ।।३।।

नाम अध्यातम ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे।
भाव अध्यातम निज गुण साधै, तो तेह थी रढ मंडो रे ।। श्री श्रे० ।।४।।

शब्द अध्यातम अरथ सुणी नै, निरविकल्प आदरज्यो रे।
शब्द अध्यातम भजना जाणी, हांन-ग्रहण मति धरज्यो रे ।। श्री श्रे० ।।५।।

अध्यातम जे वस्तु विचारी, बीजा जाण लबासी रे।
वस्तु गते जे वस्तु प्रकासै, 'आनन्दघन' मत वासी रे ।। श्री श्रे० ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

११. श्री श्रेयांस-जिन स्तवनम्

आध्यात्म-रहस्य :

एकदा अध्यात्मतत्त्व निष्ठ सन्त आनन्दघनजी के सत्संग में बहुत से अध्यात्मतत्त्व-प्रचारक आये, और बाबा से आध्यात्मिक-चर्चा द्वारा अपने प्रश्नों को हल करने लगे।

प्रचारक—भगवन्! विश्व में बहुत से धर्म-मत प्रवर्त्तक हुये और होते चले जा रहे हैं, उनमें से अध्यात्म-तत्त्व का परिपूर्ण-रूप में साक्षात्कार करके उसे विशेष व्यक्त करने वाले सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक कौन गिने जा सकते हैं?

१. सन्त आनन्दघनजी—वत्स! आध्यात्म-मत-प्रवर्तकों में सर्व श्रेष्ठ तो वे ही गिने जा सकते हैं कि जिन्होंने राग, द्वेष और अज्ञान का सर्वथा जय और क्षय कर दिया हो, अतएव जो सम्पूर्ण कैवल्य-लक्ष्मी पाकर घट-घट की हल-चल प्रत्यक्ष जानते हुये भी आत्म-स्वरूप में अखण्ड रमणता करने वाले साक्षात् श्रेयोमूर्ति हों। मेरी दृष्टि में तो वैसे अव्वल नम्बर के नामांकित व्यक्ति श्री जिनेश्वर भगवान ही हैं। वे साक्षात् श्रेयांसनाथ हैं, क्योंकि उनके उपलब्ध सिद्धान्त और शिक्षाबोध में आध्यात्मिकता की इतनी पराकाष्ठा है कि जो उन्हें परिपूर्ण अन्तर्यामी और आत्मारामी के रुप में मानने के लिये हमें बाध्य कर देती है। वास्तव में उन्हीं ने अध्यात्म-मार्ग को परिपूर्ण रूप से पाया और उसे उसी-रूप में व्यक्त करके वे सहज ही में जन्म-मरण आदि दुखों से सर्वथा मुक्त हो कर सिद्धलोक में चले गये।

२. प्रचारक—वर्तमान में इस अध्यात्म-पथ के पथिक सन्तों में से सर्वश्रेष्ठ सन्त कौन गिने जा सकते हैं?

सन्त आनन्दघनजी—सर्वश्रेष्ठ सन्त तो वे ही गिने जा सकते हैं कि ज़िनका उपयोग आत्म-दर्शन, आत्मज्ञान और आत्मसमाधि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप मुनि-गुणों द्वारा साक्षात् आत्मा में ही रम रहा हो। जिनका उपयोग आत्मा में नहीं, प्रत्युत इन्द्रिय विषयों में ही रम रहा हो और साधु-स्वाँग मात्र की बाह्य-चेष्टा से ही यदि उन्हें मुनि मान लिया जाय, तब तो ऐसे इन्द्रियारामी संसारी सभी प्राणी हैं और साधु-स्वाँग के बाह्य-अभिनय में तो नट भी प्रवीण है, पर वैसी कोरी नटबाजी से अध्यात्म-पथ में प्रवेश तक नहीं हो पाता। खास तौर से यदि देखा जाय तो आत्म-रमणता ही साधुता का प्राण है। और ऐसे जो सप्राण आत्मारामी सन्त हों, वे तो इन्द्रिय विषयों को देखने जानने की कामना तक से मुक्त केवल निष्कामी ही बने रहते हैं।

३. प्रचारक—आध्यात्म-सम्मत क्रिया का मुख्य लक्षण क्या है?

सन्त आनन्दघनजी—स्वरूपानुसन्धान को स्थिर करके शुभा-शुभ-कल्पना को रोकने वाली रत्नत्रयी-मूलक चेतना की वह अबंध संवर-परिणति ही अध्यात्म-क्रिया का मुख्य लक्षण है कि जिस परिणति से अपने आत्म-स्वरूप की अखण्ड रमणता सधती है और परिणाम में चतुर्गति का प्ररिभ्रमण मिटता है, अतः मुमुक्षु के लिये वही अंगीकार करने योग्य है; किन्तु जिस क्रिया के करने पर बन्ध ही बढ़ता हो और परिणाम में आत्मा को फिर से चतुर्गति में जन्म धारण करना ही सधता हो, तो उसे अध्यात्म सम्मत क्रिया नहीं कहा जा सकता। वह तो आश्रव क्रिया ही है अतः मुमुक्षु के लिये हेय है।

४. प्रचारक—भगवन्! हम भी अपने को अध्यात्मी समझते हैं। हमारे यहाँ आध्यात्मिक-साहित्य का भी प्रचुर संग्रह है और उसे बढ़ाते रहते हैं। अध्यात्म-विषय का पठन-पाठन, चर्चा और लेख-प्रवचन आदि द्वारा प्रचार भी करते हैं, इतने पर भी हमें अपने दीपक के तले अन्धेरा ही नजर आता है। कृपया इस अन्धेरे से मुक्त होने के लिये हमें कुछ मार्ग-दर्शन कराइये।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्त आनन्दघनजी—प्यारे! आध्यात्मिकता चार तरह की होती है—

(१) नाम आध्यात्मिकता—आध्यात्मिक-साधना और आध्यात्मिक-साधन विहीन होने पर भी अपने आप को 'अध्यात्मी' मान लेना।

(२) स्थापना-आध्यात्मिकता—मन्दिर, मूर्ति, सत्संग-भवन आदि का निर्माण और आध्यात्मिक साहित्य का संग्रह आदि आध्यात्मिक साधन-मात्र से ही अपनी आध्यात्मिकता की इतिश्री समझना, किन्तु नियमित साधना में प्रवेश तक न करना।

(३) द्रव्य-आध्यात्मिकता—सत्संग, भक्ति, दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिक, प्रतिक्रमण, व्रत, तप, त्याग आदि सदनुष्ठान तो करना, पर चेतना को अन्तर्मुख आत्मस्थ न रखना। इतने पर भी अपने को सच्चे अध्यात्मी—मुमुक्षु, श्रावक किंवा साधु-योगी मान लेना।

(४) भाव आध्यात्मिकता—इष्टानिष्ट कल्पना रहित शुद्ध चेतना के अन्तर्मुखी प्रवाह से केवल चैतन्य के स्पर्श पूर्वक क्रमशः आत्म-प्रतीति, आत्मलक्ष और आत्मानुभूति धारा को प्रकटाने वाले सद्गुरुप्रदत्त सदनुष्ठान में दत्त चित्त रहना एवं गुणविकास होने पर भी अहम् का न स्फुरना।

आध्यात्मिकता के इन चार भेदों में से प्रथम के तीन भेद जो कि आपके चिर-परिचित हैं, उनसे अब सम्बन्ध-विच्छेद कर दो, क्योंकि वे अकार्यकारी हैं और भाव आध्यात्मिकता कि जिससे आत्म-प्रतीति आत्मज्ञान एवं आत्मसमाधि आदि आत्म गुणों के विकास पूर्वक आत्मारामता सधती है, उसे अपना लो। कमर कस कर उसे प्राप्त करने की लौ लगादो। इसी से ही तुम्हारे दिल-दीपक की भी लौ लग जायगी।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

५. नाम स्थापना और द्रव्य-रूप त्रिविध-अध्यात्म तो कोरा शब्द-अध्यात्म है, अर्थ अध्यात्म नहीं, क्योंकि अर्थ-अध्यात्म केवल भाव अध्यात्म-स्वरूप है और यही मुमुक्षु के लिए प्रयोजन-रूप है—इस रहस्य को जबसे सुना तब से ही निर्विकल्पता ग्रहण करके चित्त को अन्तर्मुख चैतन्याकार स्थिर कर दो और सचमुच आध्यात्मी बनो, क्योंकि शब्द-अध्यात्म से कार्य सिद्धि हो-या-न हो ? कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि भाव अध्यात्मी सद्गुरु का निश्चय और आश्रय हो तब तो वह अर्थ-अध्यात्म का कारण बन सकता है, अन्यथा उससे आत्म-वचँना ही होती है। अतः कोरे शब्द अध्यात्मी रह कर व्यर्थ में कालक्षेप करके आत्म-वचँना-रूप नुकसान मत उठावो। अधिक क्या कहूँ ?

६. प्रचारक—भगवन् ! सच्चे आध्यात्म निष्ठ सद्गुरु को हम कैसे पहचान सकें ?

सन्त आनन्दघनजी—उनके वाणी और वर्तन से। जो सचमुच आध्यात्म निष्ठ होते हैं उनका मन सतत आत्म-विचार द्वारा अन्तर्मुख आत्माकार ही बना रहता है—अतएव उनकी दृष्टि प्रायः स्थिर रहती है। उनकी वाणी अपूर्व पूर्वापर सुसम्बद्ध, स्व-पर वस्तु की यथास्थित वस्तु-स्थिति प्रकाशक, समन्वयात्मक, आत्मार्थ प्रेरक और अविसंवादिनी होती है, एवं उनका शरीर भी अचपल रहता है। दरअसल पुष्ट ज्ञानानन्द को प्रदान करने वाले जिनेन्द्र देव के वे ही सच्चे अनुयायी हैं कि जो मोक्ष-मार्ग में एकनिष्ठ हैं, अतः मुमुक्षुओं को एक निष्ठा से वे ही उपासनीय हैं। शेष सभी तो भेषधारी समझकर दूर से ही नमस्करणीय हैं। सुज्ञेषु किं बहुना ?

"मुमुक्षुओं के नेत्र ही महात्मा को पहचान लेते हैं"

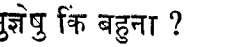

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री वासुपूज्य जिन स्तवन

(राग-गौडी-तुंगिया गिर सिखर सोहै—ए देशी)

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घणनामी परणामी रे ।
निराकार साकार सचेतन, करम करम फल कामी रे ।। वासु० ।।१।।

निराकार अभेद संग्राहक, भेद ग्राहक साकारो रे ।
दर्शन ज्ञान दु भेद चेतना, वस्तु ग्रहण व्यापारो रे ।। वासु० ।।२।।

करता परिणामी परिणामो, करम जे जीवै करिये रे ।
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नय अनुसरिये रे ।। वासु० ।।३।।

सुख दुख रूप करम फल जाणो, निश्चय एक आनंदो रे ।
चेतनता परिणाम न चूकै, चेतन कहे जिनचंदो रे ।। वासु० ।।४।।

परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान करम फल भावी रे ।
ज्ञान करम फल चेतन कहिये, लीज्यो तेह मनावी रे ।। वासु० ।।५।।

आतमज्ञानी श्रमण कहावै, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे ।
वस्तु-गतै जे वस्तु प्रकासै, 'आनन्दघन' मत संगी रे ।। वासु० ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१२. श्री वासुपूज्य-स्तवनम्

आत्मज्ञान की कुंजी :

प्रचारक—भगवन्! आपने जो भी फरमाया है वह सभी यथार्थ है, पर हमारे गुरुजनों को हम कैसे छोड़ें? राजे-महाराजे भी जिनके चरण छूते हैं, लाखों लोग जिनके अनुयायी हैं और उनकी कृपा से ही हमारी प्रवक्ता के रूप में सर्वत्र प्रसिद्धि है, फलतः हम सुख पूर्वक रोटी पा रहे हैं। तक भला! आपही बताइये कि हम क्या करें?

१. सन्त आनन्दघनजी—अहो! अपने ही पूज्य इष्टदेव श्री वासुपूज्य भगवान जिस हेतु से सम्पूर्ण ज्ञानानन्द और बहुत से नामों से रूपान्तरित विश्वव्यापी प्रसिद्धि पाकर त्रिभुवन स्वामी बने, उनकी उस जिन-वीतराग दशा को नित्य पूजते हुये भी परिणामतः यह वासु अर्थात् जीवात्मा, स्वयं मिथ्यान्धकार से ग्रसित होने पर भी केवल पेट भराई के लिये ही ज्ञानी के रूप में अपनी अत्यधिक प्रसिद्धि चाहता हुआ सतत प्रयत्नशील है; इसीलिये यह कर्म तथा कर्मफल का कामी, अपनी देखने-जानने की सारी चैतन्य-शक्ति को व्यर्थ ही यत्र-तत्र लगा रहा है; और फिर भी दिल का दीया सुलगाने की आशा रखता है—यह कितने आश्चर्य की बात है?

प्यारे! जग-विष्टा तुल्य रोटी और शुकरी विष्टा तुल्य लोक-प्रतिष्ठा के पीछे तो द्रव्य, भाव और नोकर्म की ही कमाई होगी, एवं इसके फल-स्वरूप आपको अन्तर्दाह-रूप शाता तथा बाह्यान्तर्दाह-रूप अशाता—की अग्नि की ही लपटें लगेंगी, पर दिल का दीया और तज्जन्य आत्मानन्द का अनुभव कदापि नहीं हो सकेगा।

२. दिल के दीये का सुलगना तो तभी सम्भव है, जबकि तत्त्व-निर्णय से निश्चित होकर अपनी चेतना देखने-जानने की सारी चैतन्य-ताकत केवल स्व-तत्त्व ग्रहण के ही व्यापार में अनवरत लगी रहे।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चेतना—चैतन्य प्रकाश-शक्ति का उपयोग—व्यवहार प्रयोग द्विविध होता है, एक तो द्रव्यों की किंवा पर्याय विशेषों की अभिन्नता पूर्वक स्व-पर-सत्ता-सामान्य को ग्रहण करने वाला दृश्याकार—जो दर्शन कहलाता है और दूसरा द्रव्यों की किंवा पर्याय विशेषों की विभिन्नता पूर्वक स्व-पर-सत्ता-विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञेयाकार-जो ज्ञान कहलाता है।

समग्र चेतना की निर्विकल्पता के लिये—इन दोनों में से जैसे दर्शन-चेतना निर्विकल्प है वैसे ही ज्ञान-चेतना का भी निर्विकल्प-रूप में परिणमन होना अनिवार्य है, और वह तभी सम्भव है जबकि स्व-तत्त्व का ही ग्रहण हो जो कि केवल परमशुद्ध-निश्चयनय के ही अवलम्बन से होता है।

३. स्व-पर तत्त्व के परीक्षण के लिये नय-परिज्ञान आवश्यक है। अंश द्वारा अंशी का ज्ञान कराने वाला दृष्टिकोण नय कहलाता है। वचन के जितने विकल्प हैं उतने ही नय हैं, पर मुख्य रूप में उनकी दो श्रेणियां हैं—एक निश्चयनय श्रेणी और दूसरी व्यवहारनय श्रेणी। गुण पर्यायों की अभेदता पूर्वक पदार्थ के प्रायः स्वभाव एकत्व को बतलाने वाला दृष्टिकोण निश्चयनय कहलाता है, इसके परमशुद्ध-निश्चयनय विवक्षितैक देश-शुद्ध-निश्चयनय, शुद्ध-निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय आदि अनेक भेद हैं। पर के निमित्त से होने वाले कार्य-व्यपदेश युक्त गुण-पर्यायों की भिन्नता पूर्वक पदार्थ को बतलाने वाला दृष्टिकोण व्यवहारनय कहलाता है; इसके अनुपचरित सद्भूत-व्यवहारनय, उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय, अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय, उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय आदि अनेक भेद हैं। निश्चयनय द्रव्याश्रित और स्वावलम्बी है जबकि व्यवहार नय पर्यायाश्रित और परावलम्बी हैं।

व्यवहारनय षट् कारकों की भिन्नता बतलाता हुआ कर्त्ता, कर्म

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

और क्रिया की अनेकता से द्रव्य-पारतन्त्र्य सिद्ध करता है, और कहता है कि आत्मा तथा शरीर कथंचित् एक हैं। आत्मा जड़ कर्मों का कर्त्ता है अतएव जड़कर्म-फल भी भोक्ता हैं और यह जड़ कर्मों से आबद्ध है। इसी के निमित्त से जड़-परिणमन होता है एवं इसमें राग आदि हैं।

निश्चयनय षट् कारको को अभिन्न बतलाता हुआ कर्त्ता, कर्म और क्रिया की एकता से द्रव्य-स्वातन्त्र्य सिद्ध करता है, और इसका कहना है कि जो परिणामी है वही कर्त्ता है, कर्त्ता के जो परिणाम हैं वे ही कर्म हैं एवं कर्त्ता की जो परिणति है वही क्रिया है। परिणामी के बिना परिणति और परिणाम नहीं एवं परिणति तथा परिणाम के बिना परिणामी नहीं ; अतः ये तीनों ही धर्म, धर्मी के अभिन्न अंग हैं क्योंकि प्रदेश-भेद नहीं हैं—इस न्याय से जड़-परिणति और जड़-परिणाम जड़ परिणामी से अभिन्न एव स्वतंत्र है ; तथा चेतन द्वारा की जाने वाली देखने-जानने-रूप चैतन्य परिणति और दर्शन-ज्ञान आदि चेतना-परिणाम चेतन-परिणामी से अभिन्न एवं स्वतंत्र है, अतः चेतन के निमित्त से जड़-परिणमन किंवा जड़ के निमित्त से चैतन्य-परिणमन नहीं होता। लक्षण भेद के कारण आत्मा और शरीर एक नहीं प्रत्युत भिन्न भिन्न हैं। आत्मा जड़ कर्मों का कर्त्ता नहीं है अतएव जड़ कर्म-फल का भोक्ता भी नहीं है, और स्पर्श गुण से रहित होने के कारण जड़ कर्मों से वह आबद्ध नहीं है। अधिक क्या ! आत्म-स्वभाव में राग आदि का स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं।

इस प्रकार नय कथन के रहस्य को जान कर के भी यदि जीव, नियति अर्थात् निश्चयनय को गौण करके इतर अर्थात् तद्भिन्न व्यवहार नय का ही प्रधानतः अनुसरण करता रहे, तो उसकी ज्ञान-चेतना शुभाशुभ-कल्पना जाल में उलझ कर सतत सविकल्पी ही बनी रहेगी। और उस दशा में उत्पन्न तीव्र-मन्द कषाय-उत्ताप को निमित

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करके जड़-कार्माण-अणु, गस बन कर चतन्य प्रदेश में सतत फैलता हुआ कर्म बादल के रूप में सघन बनता रहेगा। जिससे दिल का दीया अर्थात् चेतन-सूर्य का ज्ञान-प्रकाश कर्म-कालिमा से सदैव दबा-सा रहेगा। फलतः शाता-अशाता के अन्तर-बाह्यान्तर अग्निदाह से झुलसता हुआ चेतन सुख-दुख का सतत अनुभव करता ही रहेगा—यह सैद्धान्तिक तथ्य है।

४. ये सुख-दुख तो खुद के शुभाशुभ-कल्पना-अपराध से उत्पन्न जड़-कर्म के ही फल हैं—ऐसा जान कर कर्म और कर्म-फल से उदासीन होकर यदि जीव व्यवहारनय को गौण करके निश्चयनय का प्रधानतः अनुसरण करता हुआ स्व-तत्त्व-ग्रहण में ही तल्लीन रहे, तो उसकी ज्ञान-चेतना स्वतः हो निर्विकल्प हो जाय। जिससे कार्माण-गैस बनना रुक जाय और ज्ञानाग्नि चेतन होकर पूर्व-संचित कर्म-बादलों को निःसत्त्व करके बिखेरती रहे। फलतः चेतन-सूर्य की अखण्ड अनन्त चेतन-ज्योति प्रत्यक्ष निरावरण होने-रूप दिल का दीया चेत जाय और चैतन्य-प्रदेश में सर्वत्र सहज ही में आनन्द की गंगा लहराने लग जाय।

वास्तव में जिनेश्वर भगवान उसे ही चेतन कहते हैं कि जो प्रतीति, लक्ष और अनुभूति-धारा से अपने स्वरूपानुसन्धान को स्थायी बनाये रखे। अपने ही देखने जानने वाले ज्ञायक स्वभाव को सतत देखता-जानता हुआ उसी में ही तन्मय रहे। चेतन और चेतना को अभिन्न रखे। इस कार्य में जरा सी भी क्षति न होने दे अर्थात् चेतना की रत्नत्रय-परिणाम धारा खण्डित न हो जाय जिसकी पूर्णतः सावधानी रखे, अतएव स्व-स्वरूप में सतत जागरूक रहे।

५. स्वभावतः परिणमनशील चेतन ज्ञान स्वरूप है। जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, वह परिणमन द्वारा परिणाम में ज्ञान-कर्म के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता ? क्योंकि केवल जानना ही जिसका स्वभाव

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है, राग, द्वेष आदि की मिलावट रहित निखालिस जानना ही केवल जानना है, और केवल जानने की क्रिया-ज्ञप्ति-क्रिया करने पर उसके फल-स्वरूप निराकुल आनन्द का अनुभव होना स्वाभाविक है, क्योंकि आकुलता तो राग-द्वेष की मिलावट पूर्वक जानने-रूप अज्ञान-कर्म का ही फल है—ज्ञान कर्म का नहीं, अतः ज्ञानकर्म तथा ज्ञानकर्म के फलस्वरूप आनन्द की ही सतत अनुभूति करनेवाला चेतन ही चेतन कहलाता है। शेष सभी मोहनिद्राधीन स्व-स्वरूप में असावधान नाम-मात्र के चेतन तो जड़वत् है।

प्यारे। प्रमाद में क्यों कालक्षेप कर रहे हो ? जागो ! जागो !। और मोहनिद्रा से मुक्त होकर अपनी चेतना को किसी तरह समझा-बुझा कर अपने चेतन-स्वरूप का साक्षात्कार करो। व्यर्थ-चिन्तन, व्यर्थ-बकवाद और व्यर्थ-चेष्टा में अपनी शक्ति का दुर्व्यय मत करो। क्योंकि मृत्यु का आना अनियमत और अनिवार्य है, जबकि आत्म-साक्षात्कार किये बिना मृत्युरोग मिटने वाला नहीं है।

६. त्रिविध कर्म से भिन्न कारण-परमात्मा-रूप आत्मा को स्व-स्वरूप-रूप में समझ लेने मात्र से कोई आत्मज्ञानी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मज्ञानी का मुख्य लक्षण आत्मसाक्षात्कार है कि जो दूज के चन्द्र-प्रकाशवत् अपने ही निरावरण चैतन्य-प्रकाश द्वारा होता है। जैसे दूज के चन्द्र-प्रकाश से चन्द्र का पूर्ण बिम्ब, उस पर का शेष आवरण-विभाग और प्रकाश क्षेत्र की मर्यादा में रहे हुये विश्व के सभी रूपी पदार्थ ज्यों-के-त्यों भिन्न-भिन्न रूप में चाहे मन्द ही सही किन्तु दिखाई पड़ते हैं; वैसे ही आत्मज्ञान-प्रकाश से सर्वांग आत्म-स्वरूप, उस पर का शेष आवरण विभाग और विश्व के सभी रूपी-अरूपी पदार्थ भिन्न-भिन्न रूप में चाहे मन्द ही सही किन्तु इन्द्रियों की मदद बिना ही दिखाई पड़ते हैं—इस न्याय से आत्मज्ञान ही केवलज्ञान का बीज है, क्योंकि इसी के अवलम्बन से पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्रवत् सम्पूर्ण केवलज्ञान-स्वरूप आत्मा का सम्पूर्ण आविर्भाव होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मज्ञान होने के पश्चात् निद्राकाल में भी आत्म प्रतीति बनी रहती है। क्योंकि अपने उपयोग को चैतन्य-पिण्ड में ही लगा कर आत्मज्ञानी शरीर को लिटाते हैं, अतः उनकी निद्रा भी योग-निद्रा कहलाती है। जब तक आत्म-प्रतीति-धारा अखण्ड बनी रहे किन्तु निवृति और प्रवृत्ति मात्र में आत्म लक्ष न जम पाये तब तक साधकीय इस दशा को अविरति-सम्यक्-दृष्टि कहते हैं। आत्म-प्रतीति की अखण्डता के साथ जब तक निवृत्तिकाल में तो आत्म-लक्ष अखण्डित जमा रहे पर प्रवृत्ति काल में वह खण्डित हो जाता हो तब तक साधक की यह एक देशीय स्वरूप-लक्ष-स्थिरता रूप आत्मदशा देशविरति कहलाती है। जबकि प्रवृत्ति-मात्र में भी किसी भी देश, काल और परिस्थिति से आत्मलक्ष धारा जरा-सी भी खण्डित न हो, सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा वह सतत अखण्डित ही सिद्ध हो जाय तब साधक की इस आत्मदशा को सर्वविरति कहते हैं।

आत्मा के लक्ष को जमाये रखने-रूप प्रयोग को सम्यक्-प्रयोग कहते हैं और सम्यक्-प्रयोग पूर्वक की प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। सर्वविरति प्रधान आत्म दशा में वैसी केवल पांच ही सम्यक्-प्रवृतियाँ अवशेष रह जाती है। जब तक शरीर में क्षुधा रोग है तब तक उसके प्रशमन के लिए (१) आहार (२) निहार (३) बिहार की प्रवृत्तियाँ अनिवार्य हैं और अनिवार्य है (४) संयम के लिये संयमोपकरण का ग्रहण-त्याग तथा (५) लोक प्रसंग में उचित संभाषण भी। संयम की पूरक शेष सभी उपप्रवृत्तियों का इन्हीं पाँच समितियों में समावेश हो जाता है। समिति काल के अतिरिक्त तमाम निवृत्तिकाल में आत्म-रमणता के लिए आत्म-उपयोग को केवल अनुभूति के बल से मन-वचन-कायरूप त्रियोग से असंग करके उसे स्व-स्वरूप में गुप्त रखना ही त्रिगुप्ति कहलाती है। साधक की यह स्वरूप-गुप्त आत्मदशा ही अप्रमत्त-सर्वविरति-दशा किंवा परमहंसदशा कहलाती है। इस सर्वोत्तमदशा से नीचे

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उतरना प्रमाद है अतः उस साधक को समितिकाल में प्रमत्त-सर्व-विरति कहते हैं।

आत्म-साक्षात्कार से उत्पन्न आत्मज्ञान द्वारा आत्म-रमणता के अथक पुरुषार्थ-प्रयत्न में जो अनवरत लगे रहते हैं, वे ही सच्चे परिश्रमी सच्चे 'श्रमण' हैं, और पुष्ट आत्मानन्द को प्रदान करने वाले वीतराग-पथ के पथिक वे ही सच्चे साधु हैं। उन्हीं के सुलगे हुये दिल-दीपक के निश्चय और आश्रय से ही मुमुक्षुओं का दिल का दीया सुलग सकता है, क्योंकि उन्हें स्व-पर तत्व का साक्षात्कार होने से वे ही तत्त्व रहस्य को अनुभव-बल द्वारा यथास्थित प्रकाशित कर सकते हैं, अतः सद्गुरु के रूप में मुमुक्षुओं को उनका ही संग-प्रसंग रखना चाहिये। दूसरे बुझे हुये दिल दीपक वाले अनुभव-शून्य वाचा-ज्ञानी मात्र द्रव्य-लिंगियों को असद्गुरु समझकर उनके संग-प्रसंग से सदा बचते रहना चाहिए, क्योंकि वे केवल क्रिया-जड़त्व किंवा शुष्कज्ञान की जाल में उलझा कर अन्धमाग-परम्परा के दुराग्रह में फँसा देते हैं। लाखों लोग भक्त होना ओर राजे-महाराजे द्वारा पूजाना ये कोई सद्गुरु के लक्षण नहीं है, किन्तु सद्गुरु का मुख्य लक्षण तो आत्मज्ञान ही है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री विमल जिन स्तवन

(राग-मल्हार-इडर आंबा आबली रे, इडर डाडिम दाख—ए देशी)

दुख दोहग दूरै टल्या रे, सुख सम्पत सुं भेट ।
धोंग धणी माथै कियो रे, कुण गंजै नरखेट ।।
विमल जिन दीठा लोयणे आज, म्हारा सीझ्या वंछित काज ।। विमल० ।।१।।

चरण कमल कमला बसै रे, निरमल थिर पद देख ।
समल अथिर पद परिहरीरे, पंकज पामर पेख ।। विमल० ।।२।।

मुझ मन तुझ पद-पंकजे रे, लीनो गुण मकरन्द ।
रंक गिणे मंदर धरा रे, इन्द्र चन्द नागिन्द ।। विमल० ।।३।।

साहब समरथ तूं धणी रे, पाम्यो परम उदार ।
मन विसरामी बालहो रे, आतम चो आधार ।। विमल० ।।४।।

दरसण दीठे जिन तणो रे, संसय रहे न बेध ।
दिनकर कर भर पसरतां रे, अंधकार प्रतिषेध ।। विमल० ।।५।।

अमी भरी मूरति रची रे, उपमा घटै न कोय ।
शांत सुधारस झीलती रे, निरखत तृपति न होय ।। विमल० ।।६।।

एक अरज सेवक तणी रे, अवधारो जिनदेव ।
कृपा करी मुझ दीजिये रे, 'आनन्दघन' पद सेव ।। विमल० ।।७।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१३. विमलजिन-स्तवनम्

भक्ति मार्ग की प्रधानता और रहस्य :

प्रचारक—भगवन्! दीये दीया होता है—यह उक्ति मेरे दिमाग में बैठ गई, अतः आज से ही मैं आपकी साक्षी पूर्वक उन केवल द्रव्य-लिंगी असद्गुरुओं की निश्रा का शुद्ध योग-त्रिक की त्रिविध शुद्धि से त्याग करता हूँ और सभी ज्ञानियों को साक्षी से आपकी ही अनन्य शरण लेता हूँ। कृपया आप अपने शरण में लेकर इस पामर को को कृतार्थ कीजिये।

प्रभो! मैं बचपन में शास्त्रीय-ज्ञान न होने पर भी जब तक प्रभु-भक्ति करता था, तब तक मेरे हृदय में लघुता और प्रभु-प्रेम बना रहता था, किन्तु शास्त्रीय-ज्ञान पढ़ कर जब से मैं अध्यात्म चिन्तन की ओर झुका, तब से धीरे-धीरे मेरे हृदय में से प्रभु-भक्ति तो गौण होती गई और उल्टे शुष्कता एवं गर्व बढ़ते गये। साथ ही असद्गुरुओं की कृपा से पेट भराई और नामवरी के पीछे में बह गया। फलतः मेरी विद्या भी अविद्या का कारण बनी रही। अब मैं इस बला से कैसे छूटूं?

सन्त आनन्दघनजी—महानुभाव! यद्यपि अध्यात्म-चिन्तन शुक्ल ध्यान का अनन्य कारण है, पर जब तक सद्गुरु की प्रत्यक्ष निश्रा में विषय-कषायों के जय पूर्वक प्रभु-भक्ति द्वारा दर्शन-मोह क्षीण न हो जाय तब तक मात्र अध्यात्म-चिन्तन से चित्त, केवल कल्पना प्रवाह में बहता रहता है पर ज्ञाननिष्ठ नहीं हो पाता, अतः चिन्तक उल्टे सन्देह, शुष्कता और गर्व आदि दोष-जाल में फँस कर स्वच्छन्द हो जाता है। सजीवन-मूर्त्ति की कृपा बिना उसे उस जाल से छूटना सम्भव नहीं, इसीलिये 'आणाए धम्मो' अर्थात् सद्गुरु की आज्ञानुसार चलने पर भी मोह-क्षोभ रहित धर्म हो सकता है—ऐसा जिनागमों में

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्व-साधारण उपदेश है। क्योंकि स्वरूपनिष्ठ श्री सद्गुरु-मुख से साध्य, साधन और साधकीय पात्रता के स्वरूप रहस्य को समझे बिना आत्म-साक्षात्कार की साधना में प्रवेश तक नहीं हो पाता। अध्यात्म चिन्तन के योग्य उपयोग की शुद्धता एवं सूक्ष्मता के लिए दर्शनमोह को परिक्षीण करना अनिवार्य है और उसके लिये अनिवार्य है भक्ति-पथ का पथिक बनना, क्योंकि चित्त शुद्धि के लिए भक्ति-मार्ग ही प्रधान-मार्ग है।

अपनी आत्मा में ही परमात्मा का अभिन्न रूप में अनुभव करने वाले प्रत्यक्ष-सद्गुरू में अथवा उनसे परमात्मदशा के रहस्य को समझ कर उनकी आज्ञानुसार परोक्ष परमात्मा की बोध और आचरण-रूप प्रत्यक्ष-स्थापना-मूर्ति में परमात्म-भाव को स्थापन किये बिना साधक के हृदय में भक्ति-भावना की स्फूर्ति ही नहीं होती। आत्मसाक्षात्कार के हेतु साधक के लिए बीज-केवलज्ञानी की निश्रा और सम्पूर्ण-केवल-ज्ञानी की निश्रा दोनों एक-सी हैं अतः वैसे सद्गुरु एवं परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है; तथा प्रत्यक्ष परमात्मा और उनकी परोक्षता में उनके बोध-शिक्षा एवं आचरण-शिक्षा की स्थापना-प्रत्यक्ष शब्दमूर्ति-रूप सत्शास्त्र तथा चैतन्य-पिण्ड-मूर्ति-रूप प्रत्यक्ष जिन मुद्रा में भी कोई अन्तर नहीं है, फिर भी जो जितना अन्तर मानता है उसे आत्मसा-क्षात्कार में भी उतना ही अन्तर पड़जाता है—ऐसा ज्ञानियों का अनु-भव है। क्योंकि अन्तर मानने पर उनके प्रति न अटल विश्वास पैदा होता है और न परम आदर-सत्कार; भक्ति-बहुमान भी। अटल विश्वास और परम-भक्ति भाव को जगाये बिना ही कोरी सत्शास्त्र-उपासना से मस्तिष्क-शुद्धि नहीं होती, तथा कोरी जिन-मुद्रा की उपा-सना से हृदय-शुद्धि नहीं होती। मस्तिष्क-शुद्धि के बिना सम्यक्-विचार का उदय नहीं होता और हृदय-शुद्धि के बिना सम्यक्-आचार में प्रवेश नहीं होता। सम्यक्-विचार के बिना स्वरूपानुसन्धान नहीं बनता और सम्यक्-आचार के बिना चित्त की चंचलता नहीं मिटती। स्वरूपानु-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्धान और चित्त की स्थिरता के बिना आत्मसाक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता—यही निष्कर्ष है।

केवल जिनवाणी किंवा केवल-जिनमुद्रा की उपासना अपूर्ण उपासना है—सम्पूर्ण नहीं। जिनवाणी द्वारा जिनदशा का माहात्म्य समझ कर परम प्रेम और उल्लास पूर्वक जिनमुद्रा का ज्यों-ज्यों स्मरण और और ध्यान स्थिर होता है, त्यों-त्यों भक्त के हृदय-पट पर प्रभु छबि अंकित होती हुई स्थिर होती है, तब भक्त-हृदय नाच उठता है, एवं आनन्द विभोर होकर भक्त अन्तर्ध्वनि से ललकारता है कि—

१. ओ हो! धन्यभाग मेरे कि आज मेरी अन्तर्चक्षु से मैंने राग आदि रहित शुद्ध चैतन्यमूर्ति जिनेश्वर भगवान को प्रत्यक्ष देखे। अहो! अब मेरे चतुर्गति-भ्रमण के जन्म-मरण आदि एवं मिथ्यांधकार आदि दुर्भाग्य दूर हो गये; और अनन्त सुख आदि नव-निधान युक्त समस्त स्वरूप सम्पदा मिल चुकी, क्योंकि समस्त स्वरूप-सम्पत्ति और शक्ति सम्पन्न त्रिभुवन स्वामी ने मुझे गोद ले लिया—अपना अनन्य शरण प्रदान कर दिया। अब प्रभु की छत्र-छाया में खड़े-निवासी रंक जन वत् काम, क्रोध आदि विषय कषाय में से किसकी ताकत है कि जो मेरी अवज्ञा कर सके? और ग्राम्य-जनोचित गरीबी भी मुझे कैसे सता सकती है।

२. भगवन्! आपकी समवशरण आदि बाह्य अतिशय-सम्पदा का भी मैं क्या वर्णन करूँ? कमल-निवासिनी कमला-लक्ष्मी, राग-द्वेष आदि मल को उत्पन्न कराने वाली और एक स्थान में कदापि स्थिर न रहने के स्वभाव वाली हाथी के कान जैसी चपल कहलाती है, पर अहो! उसने भी आपके कैवल्य-पद को राग आदि मल से रहित एवं स्थिर देखते ही तुरन्त अपनी समल और चपल उपाधि का परित्याग कर दिया; तथा अपने निवास स्थान 'कमल' को तुच्छाति-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तुच्छा समझ कर, उससे अपना मुँह मोड़ कर आपके चरण-कमलों को अपना निवास-स्थान बना कर यह स्थिर हो गई।

३. दयालु! आपकी दया से मेरा भी यह मन-भ्रमर आपके चरण-कमलों के चैतन्य-गुण-रस-पान में तल्लीन होकर इतना मस्त हो गया है कि चन्द्रवत् उज्ज्वल चन्द्रेन्द्र, धरणेन्द्र, शक्रेन्द्र आदि देवों के इन्द्रपद, तथा महालय, खजाने आदि अपार सामग्री युक्त वसुन्धरा के चक्रवर्ती-पद की समस्त विभूति को साक्षात् विभूति-राख तुल्य तुच्छ समझ कर उस ओर नजर उठा कर भी नहीं देखता।

४. हे परमेश्वर! विश्व में आपकी साहिबी ही सर्वोत्कृष्ट है। आप जैसे सर्वसमर्थ स्वामी को पाने से अब कर्म-शत्रु मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकते। अहो! आपकी उत्कृष्ट उदारता! कि जो सेवक को ही सेव्य बना देती है। हे मनविसरामी! मेरे मन को आप इतने प्रियतम हो चुके हैं कि इधर-उधर की नाचकूद छोड़कर यह केवल आपमें ही स्वतः स्थिर रहता है। हे आत्माधार! आपके नाम-स्मरण से मुझे शरीर, संसार और भोगों का भी विस्मरण हो चुका है। मेरे हृदय में आपकी छवि की स्थापना हो जाने के बाद अब मुझे प्राणीमात्र में आप-ही-आप सर्वत्र नजर आते हैं। आपका आत्म-द्रव्य मेरे आत्म-द्रव्य को शरीर आदि से सर्वथा भिन्न बतलाता है, और आपके आत्म-स्वभाव के अवलम्बन से मेरे चिद्-विकार स्वतः क्षीण हो रहे हैं। इस तरह चौ—चारों ही प्रकार से आप मेरे आत्म-कल्याण के लिये परम आधार हैं।

५. हे स्वयं ज्योति! पृथ्वी तल पर जैसे सूर्य के किरण-समूह चमकते ही अन्धकार का अस्तित्व स्वतः मिट जाता है, वैसे ही मेरे हृदय-प्रदेश में आपकी जाज्वल्यमान छबि के चमकते ही शरीर में आत्म-भ्रम उत्पन्न कराने वाले मिथ्यान्धकार का अस्तित्व भी स्वतः

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मिट गया, और अनादि काल से कलेजे को कुरेद-कुरेद कर खाने वाले संशय-कीट न जाने कहाँ लापता हो गये।

६. हे अमृत-सागर! आपकी छबि-छटा की अद्भुत रचना का मैं क्या वर्णन करूँ? यह तो साक्षात् अमृत का ही भरा पिण्ड है। विश्व भर में ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है कि जो इसकी उपमा देने में भी उपयुक्त हो सके। आपकी इस अनुपम मूर्त्ति को एक टक देखती हुई मेरी दृष्टि भी सुधारस से सतत स्नान कर रही है, फिर भी इसे सन्तोष नहीं होता, क्योंकि इससे इसे अपार शान्ति मिल रही है अतः यह हटाने पर भी नहीं हटती।

७. हे जिनेन्द्र देव! आपने असीम कृपा करके मुझे जो यह अक्षय पुष्ट आत्मानन्द को प्रदान करने वाली अपनी चरण-सेवा बख्शी है वह, जबतक मैं भव-मुक्त न हो जावूँ तब तक भवोभव में अखण्ड रूप में बख्शाते रहियेगा—बस यही इस रंक सेवक की एक छोटी-सी प्रार्थना है, जिसकी स्वीकृति देकर मुझे कृतकृत्य कीजियेगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री अनन्त-जिन-स्तवन

(राग—रामगिरी कड़खो)

धार तरवार नी सोहिली दोहिली, चउदमा जिन तणी चरण सेवा ।
धार परि नाचता देखि बाजीगरा, सेवना-धार परि रहै न देवा ।। धार० ।।१।।

एक कहै सेविये विविध किरिया करी, फल अनेकांत लोचन न देखै ।
फल अनेकांत किरिया करी बापड़ा, रडबडै चार गति मांहि लेखै।।धार०।।२।।

गच्छ ना भेद बहु नयण निहालतां, तत्त्वनी बात करतां न लाजै ।
उदर भरणादि निजकाज करतांथकां, मोहनडिया कलिकालराजै।।धार०।।३।।

वचन निरपेख व्यवहार झूठौ कह्यो, वचन सापेख व्यवहार साँचो ।
वचन निरपेख व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी कांइ राचो ।।धार०।।४।।

देव गुरु धर्म नी शुद्धि कहो किम रहै, किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो ।
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी, छारि परि लीपणो तेह जाणो।।धार०।।५।।

पाप नहिं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहिं कोइ जग सूत्र सरिखो ।
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करै, तेहनो शुद्ध चारित्र परिखो ।।धार०।।६।।

एह उपदेश नूं सार संक्षेप थी, जे नरा चित्तमां नित्य ध्यावै ।
ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवी, नियत 'आनन्दघन' राज पावै ।।धार०।।७।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१४. श्री अनन्त-जिन-स्तवनम्

चारित्र का पारमार्थिक रहस्य :

प्रचारक—भगवन्! जिनवाणी में जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को मोक्ष-मार्ग बताया, वहाँ सम्यक्त्व पूर्वक देखने, जानने और आचरण द्वारा ही भव-बन्धन से आत्मा का मोक्ष बताया, अतः सम्यक्त्व ही मोक्ष-मार्ग की रेखा है—ऐसा सिद्ध हुआ। चित्त शुद्धि के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती और चित्त शुद्धि के लिए प्रधानतः प्रभु-भक्ति करना अनिवार्य है—इस विषय में आपने जो रहस्य पूर्ण दिग्दर्शन कराया वह कितना हृदयंगम और अद्भूत है। यद्यपि प्रचारक के नाते जैन-अजैन अनेक सम्प्रदायों के बहुत से धर्माचार्यों का इस दास को व्यापक परिचय है, पर ऐसा हृदयंगम और अद्भुत निरूपण आज़ तक हमने कहीं से कभी भी नहीं सुना था।

वर्तमान में जैनों की दिगम्बर और श्वेताम्बर उभय श्रेणियों की तत्व निरूपण शैली और साधना प्रणाली कितनी विचित्र और अर्थ-शून्य है—यह आपसे छिपी हुई नहीं है। सभी गच्छवासी धर्माचार्यों के पास से सम्यक्त्व तो केवल बाजारू सब्जी के मोल, अपने सिवाय अन्य किसी को भी सच्चे गुरु न मानने के तोल मुँहमाँगा मिलता है। और चारित्र भी इतना सस्ता है कि पीछी-कमण्डलु किंवा ओघा-मुहपत्ती के धारण पूर्वक वस्त्ररहित किंवा परिमित वस्त्र सहित वेशभूषा बना ली कि मोक्ष-मार्ग के सच्चे साधु के रूप में छट्ठे-सातवें गुणस्थान प्रधान आत्मदशा का प्रमाण-पत्र मिल ही जाता है। प्रभो! चारित्र का बाजार क्या इतना सस्ता हो सकता है?

१, सन्त आनन्दघनजी—सुज्ञ! चौदहवें तीर्थङ्कर श्री अनन्तनाथ प्रभु जिस चारित्र मार्ग की अप्रमत्त धारा पर चल कर क्रमशः चौदह गुणस्थानों को पार करके सिद्धालय में पहुँचे, उस चारित्र का मुख्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लक्षण है—अपनी दर्शन-ज्ञान-चेतना की आत्माकार अखण्ड स्थिरता : किन्तु ओघा-मुहपत्ती किंवा पीछी-कमण्डलु—ये कोई चारित्र के मुख्य लक्षण नहीं हैं।

तातो तलवार की तीक्ष्णतम धार पर नंगे पैर चलना—यह भी कोई दुष्कर नहीं है, क्योंकि उस पर तो कितने ही बाजीगर नाचते-कूदते देखे जाते हैं ; किन्तु उपरोक्त चारित्र-मार्ग की अप्रमत्त-धारा पर केवल असंग उपयोग से चलना अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि इस पर कदम रखने में वे बाजीगर तो क्या ? आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न अचिन्त्य दिव्य शक्ति वाले देवलोक के अधिपति इन्द्र अहमिन्द्र भी समर्थ नहीं हैं ; तब भला ! आत्म साक्षात्कार विहीन ओघा-मुहपत्ती किंवा पीछी-कमण्डलु वाले कोरे द्रव्य-लिंगी बहिरात्मा किस तरह समर्थ हो सकते हैं ? कि जो सम्यक्-चारित्र मार्ग से लाखों योजन दूर हैं और जिनमें सीरी तलवार की अतीक्ष्ण धार पर चलने जितना भी चित्त कौशल नहीं है।

२. प्रचारक—प्रत्येक गच्छवासी एक स्वर से आलापते हैं कि—चारित्र के बिना मोक्ष नहीं। चारित्र का मूल क्रिया है, अतः चारित्र-आराधना के लिये षट् आवश्यक आदि विविध-क्रिया-कलाप का करना आवश्यक है, और यह जिनागम सम्मत ही होना चाहिये—तदनुसार तो केवल हमारे ही गच्छ की समाचारी है, अतः जिस पद्धति से हम विविध क्रियाएं करते हैं वही पद्धति सम्यक् है, इसी से मोक्ष होता है, अन्य गच्छ वालों की समाचारियाँ सम्यक् नहीं है अतः उनसे मोक्ष तो क्या, सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरे गच्छवासी सभी के सभी मिथ्यात्वी हैं—इस तरह सभी गच्छवासी एक दूसरे को मिथ्यात्वी कह कर अपनी मानी हुई क्रियाओं का आग्रह करके परस्पर झगड़ते हैं। फलतः क्रियारुचि जीव दुविधा में पड़ जाते हैं कि तीर्थङ्कर परम्परा का मुख्य गच्छ कौनसा ? कौनसे

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

गच्छ की समाचारी जिनागम सम्मत है। और किस क्रिया विधान से मोक्ष-फल की प्राप्ति हो सकती है?—भगवन्! इस सारे कथन के पीछे छिपे हुये तथ्य पर कृपया प्रकाश डालिये!

सन्त आनन्दघनजी—शुद्धोपयोग की आत्माकार अखण्ड रमणता-रूप चारित्र आराधना के बिना मोक्ष नहीं होता और ज्ञप्ति-क्रिया के बिना चारित्र-आराधना नहीं होती। ध्यान द्वारा ध्येय-रूप केवल स्व-तत्व के ही स्पर्श को प्राप्त करानेवाली शुद्ध क्रिया ही 'ज्ञप्ति-क्रिया' कहलाती है, कि जो शुभाशुभ-भावों के संवर पूर्वक होती है। षट् आवश्यक आदि वचनोच्चारण-रूप जो विविध-शुभ क्रियायें हैं वे सभी स्वाध्याय के ही प्रकार हैं, कि जो स्वाध्याय अप्रमत्त से प्रमत्त होते समय आत्म-लक्ष को अखण्ड रखाने में साधक के लिये एक प्रबल सहारा है। स्वाध्याय के निमित्त से ध्यान की उपादान कारणता विकसित होती है। तदनुसार जहाँ ध्यान ध्येयाकार जमा कि स्वाध्यायात्मक सभी शुभ तरंग स्वतः समा जाते हैं और ज्ञप्ति-क्रिया सधती है—इस तरह स्वाध्याय और ध्यान की परस्पर कार्य कारणता है, अतः कारण में कार्योपचार करके स्वाध्याय-रूप षट् आवश्यक आदि शुभ क्रियाएं भी परम्परा से मोक्ष हेतु के रूप में जिन वाणी में उपादेय बतायी गई है, पर वे साक्षात् मोक्ष-हेतु नहीं है, साक्षात् मोक्ष हेतु तो केवल ज्ञप्ति-क्रिया मूलक आत्मध्यान ही है। अतः जब तक आत्मध्यान की योग्यता न हो तब तक लक्ष्य पूर्वक मंत्र-स्मरण, दर्शन-पूजन, सामायिक-प्रतिक्रमण आदि के रूप में स्वाध्याय का सहारा लेना मुमुक्षु के लिये अनिवार्य है।

देश काल और परिस्थिति वश स्वाध्याय मूलक शुभ-क्रियाओं में चाहे ऊपरी फरक भले ही हो पर यदि भीतरी आत्म-लक्ष में फरक न हो तो वे सभी क्रियायें सम्यक् हैं; और यदि आत्म-लक्ष्य ही न हो तब तो वे हो सभी की सभी क्रियायें मिथ्या हैं, क्योंकि आत्मलक्ष्य के पूरक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सभी क्रियाओ का फल केवल एक मोक्ष है जबकि आत्मलक्ष शून्य उन्हीं क्रियाओं का फल पुण्य-पाप की अनेक धाराओं में विभक्त होकर चारों गतियों में परिभ्रमण करने वाला अनेक अन्त अर्थात् अनेक जन्म-मृत्यु मूलक होता है।

जो एक दूसरे गच्छवासियों को मिथ्यात्वी कह कर केवल बाह्य क्रियाओं के दुराग्रह वश परस्पर झगड़ते हैं वे कोरे क्रिया जड़ और व्यवहार से भी दृष्टि-अन्ध हैं क्योंकि उनके पास अनेकान्त-लोचन अर्थात् स्याद्वाद-दृष्टि ही नहीं है, इसीलिए एक स्वर में एकान्तिक राग आलापते हैं कि हम ही विविध क्रियायें करके सम्यक् चारित्र की आराधना करते हैं—दूसरे नहीं, पर अनेक क्रियाओं के साथ ही जो अनेक शुभाशुभ भाव करते हैं उसके फ .स्वरूप अनेक अन्त—अनेक जन्म-मृत्यु करने पड़ेंगे—ये तो उनकी नजर में ही नहीं आते—यही इस कलियुग की महिमा है। इसी तरह भूतकाल में भी अनेकान्त दृष्टि को ठुकराकर अनेक संसार-फलों को उत्पन्न कराने वाली लक्ष्य शून्य अनेक क्रियाओं द्वारा अपने ललाट के लेख तैयार करके बेचारे अनेक क्रिया जड़—चारों गतियों में रुले हैं और भविष्य में भी रुळते रहेंगे।

३. वास्तव में गच्छ का स्वरूप है—एकसी शिक्षा और दीक्षा विधि से मोक्ष मार्ग में गमन करने वाले अनेक व्यक्तिओं का समूह। पात्रता-भेद के कारण अनेक गच्छ अनिवार्य हैं, जैसे कि श्री महावीर प्रभु के ग्यारह गणधरों के नव गच्छ। प्रत्येक गच्छवासी की सभ्यता है—विचार भेद होने पर भी लक्ष्य भेद का न होना, जैसा कि उक्त नव गच्छों में वाचना-भेद था, किन्तु लक्ष्य भेद नहीं था ; बाह्य आचार भेद होने पर भी प्रीति भेद का न होना, जैसा कि उक्त गणधर परम्परा में बहुत से शिष्य वस्त्र रहित दिगम्बर रहते थे (आचारांग—८-७-२) तो कोई कटि वस्त्र—कोपीन मात्र भी रखते थे (आचारांग ८-७-१) एवं कितनेक "एगे वत्थे एगे पाए" अर्थात् एक वस्त्र और एक पात्र

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भी रखते थे, फिर भी परस्पर प्रीति-भेद नहीं था। यह प्रणाली दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि, एलक, और क्षुल्लक के रूप में अब तक प्रचलित है पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नहीं रही। जिसका कारण निम्न प्रकार प्रतीत होता है—

जब बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा तब द्वितीय श्री भद्रबाहु स्वामी श्रमण-संघ सहित दक्षिण देश में जाकर विचरे। वहाँ देश, काल और परिस्थिति अनुकूल थी अतः मूल प्रणाली टिक सकी ; जबकि इतर प्रदेशों में प्रतिकूलता के कारण वह विच्छिन्न हो गई। काल क्रम से ज्यों-ज्यों लक्ष्य भेद होता गया, त्यों-त्यों प्रीति भेद भी बढ़ता गया और सम्प्रदायवाद खड़ा हो गया, फलतः प्राचीन पद्धति वालों ने दिगम्बर और नयी पद्धति वालों ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय कायम कर लिया। फिर तो क्रमशः दोनों सम्प्रदायों में अनेक उपसम्प्रदाय बढ़ाकर मतार्थियों ने जैन-शासन को चलनीवत छिद्रित कर दिया।

दिगम्बरत्व के आग्रह के कारण दिगम्बर सम्प्रदाय में संयमोपकरणों की अधिकता की तो गुंजाइश ही नहीं रही अतः मुनिदशा में केवल पीछी-कमण्डलु और एलक-दशा में पीछी-कमण्डलु एवं कोपीन रखते हैं। ये दोनों ही पाणिपात्र हैं। गृहस्थों द्वारा पडगाहे जाने पर मुनि खड़े-खड़े एवं एलक बैठे-बैठे एक जगह ही प्रासुक आहार-जल ग्रहण करते हैं तथा क्षुल्लक दशावालों के लिये पीछी-कमण्डलु, एक धातु पात्र, एक झोली, चार हाथ प्रमाण तक की एक चादर और सात घरों से भिक्षा ग्रहण करके जहाँ प्रासुक जल मिल सकता हो उस घर में बैठ कर आहार-विधि समाप्त करने का विधान है। इन तीनों श्रेणी में कम-से-कम ठाम चोविहार-एकासन की ही प्राणान्त तक प्रतिज्ञा है, जिसमें दुवारा औषध किंवा जल लेने का भी अपवाद नहीं है। जिसे सभी त्यागी अब तक निभा रहे हैं। केवल, क्षुल्लक सात घरों की भिक्षा पद्धति छोड़ कर एक ही घर की भिक्षा ग्रहण करते हैं

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा कोपीन अधिक रखते हैं। एलक और क्षुल्लक, श्रावकों में एकादशवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक माने जाते हैं। ग्यारह प्रतिमा का क्रम इस सम्प्रदाय में अब तक प्रचलित है। यहाँ आहार शुद्धि का अत्यधिक विवेक है।

देश काल और परिस्थिति वश क्षुल्लक पद्धति का विस्तार करके श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने स्थविरों, वृद्धों के लिये चौदह संयमोपकरण कायम किये जिसका उल्लेख वृहत्-कल्प ग्रन्थ में निम्न प्रकार है :

१. रजोहरण २. सोलह अंगुल प्रमाण वस्त्र-खण्ड की मुहपत्ती ३. एक हाथ भर के चौकोर वस्त्र का दुवड़ा या चौवड़ा चोलपट्टा-कोपीन ४. ५. ६. ढाई से चार हाथ तक लम्बी और ढाई हाथ चौड़ी दो सूती एवं एक ऊनी चादर ७. ८. मिट्टी, काष्ठ किंवा तुम्बी का एक मात्रक-बड़ा पात्र और एक भोजन के लिये मध्यम प्रमाण से चालीस अंगुल की परिधि वाला पात्र ९. पात्र बन्ध १०. पात्र-स्थापन ११. पात्र केशरिका १२. पडला १३, रजस्त्राण और १४. गोच्छक।

रजोहरण जीव रक्षा के लिये अनिवार्य होने से दिगम्बर सम्प्रदाय में पक्षी-पिच्छों का प्रचलित था। जैसे कि गृद्ध-पिच्छ, मयूर-पिच्छ आदि, पर अब केवल मयूर-पिच्छ का ही प्रचलन है। यह पद्धति मूल गामिनी प्रतीत होती है क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी योगोद्वहन द्वारा सूत्र-आराधना विधि में मयूर पिच्छ का दंडासन अनिवार्य बताया जाता है। मयूर-पिच्छ सर्वत्र सुलभ न होने से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने रजोहरण-विधि निम्न प्रकार से अपनायी :

ऊनी कम्बल, उष्ट्र-कम्बल अथवा शण, मूंज किंवा वच्चक घास की बनी बोरी का बतीस अंगुल लम्बा और अंगुष्ठ-यव के ऊपर तर्जनी-नखाग्र के रखने पर बीच में समा सके उतना चौड़ा खण्ड करके उसके नीचे से आठ या बारह अंगुल प्रमाण आडे तन्तु निकाल करके बीस या चौबीस अंगुल की दण्डी पर उसे लपेट लेना तथा तीन बन्धनों से

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बाँधना—देखो वृहत्-कल्प। अब तो इसका 'ओघे' के रूप में कैसा साज सजाया जाता है और वह कितना आगम सम्मत है—यह तो कोई विचारक ही जानते हैं।

वर्तमान में क्या स्थविर ! और क्या युवा ! सभी श्वेत वस्त्रधारी उपरोक्त चौदह उपकरणों में संख्या बढ़ा कर किस सीमा तक पहुँचे हैं ! और 'एग भत्तं च भोयणं'—दशवैकालिक अर्थात् केवल एक वक्त के भोजन-नियम को ठुकरा कर दिन भर में न जाने कितने वक्त खाते-पीते हैं ! जिसका कोई ठिकाना ही नहीं। एक सामान्य गृहस्थ को भी मात कर दे उतना तो एक-एक साधु का समाज पर वस्त्र-पात्र आदि के पीछे प्रतिवर्ष खर्च है। केवल इन्हीं के पात्रों के लिये ही प्रतिवर्ष सैकड़ों हरे पेड़ों की बलि चढ़ाई जाती है। भ्रूण, बाल, युवा आदि भेड़ों की हत्या पूर्वक कसाईघर आदि की ऊन से बनी मँहगी कम्बल, ओघा, संथारिया एवं कथंचित् पशु चर्बी से चलने वाली यंत्रों से बनी मलमल आदि से सज-धज कर हमारे ये अहिंसा के पुजारी न जाने अहिंसा की कितनी शोभा बढ़ा रहे हैं—यह तो वे ही जानें।

क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर ! चाहे नंग-धडंग रहें, चाहे वस्त्र भडंग !! पर आत्म साक्षात्कार का रास्ता तो प्रायः सभी भूल चुके हैं, इसीलिए ये वीतराग के सुपुत्र 'सिद्धा पन्नरस भेया'—पन्द्रह भेद से सिद्धों का गान आलापते हुये भी केवल बाह्य क्रिया-काण्ड और वेष-भूषा के आग्रह वश बीस पन्थ, तारण पंथ, गुमान पन्थ तेरह पन्थ तथा खरतर, अंचल, तपा, पायचन्द, कँवला, लोंका आदि गच्छ एवं स्थानकवासी, तेरहपंथी मतभेद की आड़ में कोरे मतार्थी बन कर केवल राग, द्वेष, और अज्ञान का ही पोषण कर रहे हैं, फलतः संघ-शक्ति की छिन्न-भिन्नता, जैन शासन की उड्डाहना और स्व-पर के अकल को अपनी सगी आँखो देख रहे हैं, फिर भी वीतराग दर्शन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म तात्त्विक बातें बना कर व्याख्यान

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

धरा धुजाते हुये इन ज्ञात-पुत्रों को जरा-सी भी शर्म नहीं आती। मत-ममत्वियों के मुख में तो तत्त्व की बातें शोभा ही नहीं देती क्योंकि मत-ममत्व और तत्त्व का परस्पर उतना ही विसंवाद है जितना कि वृक्ष के कोटर में अग्नि और फिर भी उसकी नवपल्लविता! साधु-स्वांग, तप, त्याग, व्याख्यान-वाणी—ये तो केवल अपनी पेट-भराई और मान-बड़ाई आदि कार्य-सिद्धि के लिये ही इन लोगों ने अपना सरल तरीका बना रक्खा है और कुछ नहीं। हाय रे! इस कलिकाल के अज्ञानानंध राज्य में मोह-महाराजा ने योगियों को नहीं छोड़ा—यह तो ठीक, पर योगियों को भी नख-शिख लपट-झपट लिया—यह कितने आश्चर्य की बात है? इसीलिए तो ये बेचारे धर्म के नाम पर दुकानदारी चलाते हुये भी नहीं डरते। बारहवीं शताब्दी के कितनेक मुनियों की हालत का दिगदर्शन कराते हुये आत्मज्ञ आचार्य श्री जिनदत्तसूरि जी लिखते हैं कि—

"रद्धंतत्थं कुणंता, रद्धंतं सव्वहा न पेच्छंति।
लग्गंति सावयाणं, मग्गे भक्खत्थिणो एगे ॥१०॥

(उपदेश कुलकम्)

कितने ही मुनि लोग शास्त्र-सिद्धान्तों के अर्थ-विवेचन को करते हुए भी अपने प्रयोजन हेतु सिद्धान्त को तो बिलकुल देखते तक नहीं हैं अर्थात् सिद्धान्त-विरुद्ध मनचाहा वर्ताव करते हैं और केवल पेट-भराई के लिये ही दिनरात श्रावकोचित (गृहस्थोचित) मार्ग में लगे रहते हैं"—इस दशा से भी आधुनिक मुनि बहुत आगे बढ़ चुके हैं, क्योंकि घट में अन्धेरा होने से इन्हें श्रावकोचित देशतः भी आत्मलक्ष नहीं है।

परमार्थ-दृष्टि से यदि देखा जाय तो चेतन-सृष्टि तीन गच्छों में विभक्त है—(१) परमात्म-गच्छ (२) अन्तरात्म-गच्छ और (३) बहिरात्म-गच्छ। जिनकी दृष्टि अखण्ड और स्थायी-रूप में द्रष्टा से अभिन्न हो चुकी है वे सयोगी-केवली, अयोगी-केवली और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध केवली सभी परमात्म गच्छीय हैं, वे परमगुरु मुमुक्षुओं के आराध्य सुदेव हैं। प्रतीति, लक्ष किंवा अनुभूति-धारा से जिनकी दृष्टि द्रष्टा में रम रही है किन्तु अभिन्न नहीं हो पायी वे चौथे गुणस्थान से लगाकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त की आत्मदशा वाले सभी अन्तरात्म-गच्छीय हैं, जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष-मार्गारूढ़ के रूप में इसी गच्छ की ही सराहना की है। इसमें छठे से बारहवें गुणस्थान-स्थित सभी मध्यम गुरु सुगुरु के रूप में मुमुक्षुओं के उपासनीय हैं। उनके अभाव में चौथे-पाँचवे गुणस्थान-स्थित जघन्य-गुरु भी मुमुक्षुओं की अन्तर्दृष्टि खोलने में समर्थ हैं। ये अन्तर्दृष्टि वाले ही सच्चे जैन हैं। जिनकी दृष्टि द्रष्टा को देखने में समर्थ ही नहीं है अतः केवल दृश्याकार में ही भटक रही है वे सभी बहिरात्म-गच्छीय हैं, फिर चाहे वे दिगम्बर हो किंवा श्वेताम्बर, पर उनका तीर्थङ्करों के मार्ग में प्रवेश तक नहीं है अतः उनका परिचय भी मुमुक्षुओं के लिये हेय है।

४. विश्व में कुगुरुओं का संग ही सबसे बड़ा असत्संग है, क्योंकि वहाँ परमार्थ के नाम पर ठगाई होती है। अन्तर्दृष्टि के न खुलने पर भी जो गुरु-पद अंगीकार करके शिष्यों के मार्ग-दर्शक बनते हैं वे कुगुरु हैं। वे मार्ग का जो भी दिग्-दर्शन कराते हैं—वह सब कोरा कल्पना-जाल है, क्योंकि उन्हें मार्ग का साक्षात् अनुभव नहीं है। अनुभव-शून्य कथन तो अन्य-नय-निरपेक्ष केवल एकान्तिक होता है। जहाँ दूसरे नयों का अपलाप है वहाँ मताग्रह का होना स्वाभाविक है। जहाँ मताग्रह है वहाँ झगड़ालु-वृत्ति है। जहाँ झगड़ालु-वृत्ति है वहाँ राग-द्वेष-अज्ञान-रूप त्रिदोष-सन्निपात है। जहाँ सन्निपात दशा है वहीं सद्विचार और सदाचार दोनों व्यापार ठीक नहीं हो सकते—यह बात न्याय-सिद्ध है अतः ज्ञानियों ने उक्त व्यापार को मिथ्या-व्यवहार कहा है।

विश्व में जीवन का सार सत्संग है। सद्गुरु का संग सत्संग कहलाता है। जिनकी अन्तर्दृष्टि अखण्ड आत्म-लक्ष पूर्वक है वे ही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सद्गुरु हैं। वे जो भी मार्ग-दर्शन कराते हैं—सब सही है, काल्पनिक नहीं क्योंकि उन्हें मार्ग का साक्षात् अनुभव है। अनुभवियों का कथन अन्य-नय-साक्षेप, सर्वांगीण अनेकान्तिक होता है। जहाँ दूसरे नयों का अपलाप नहीं है वहाँ मताग्रह, झगड़ालु-वृत्ति और राग-द्वेष-अज्ञान-रूप त्रिदोष सन्निपात नहीं हैं। जहाँ सन्निपात रहित स्वस्थ समरस दशा है वहाँ सद्विचार और सदाचार दोनों व्यापार बिल्कुल ठीक होते हैं अतः उक्त व्यापार को ज्ञानियों ने सम्यक्-व्यवहार कहा है, और इसी का फल मोक्ष है।

निरपेक्षवाद प्रधान मिथ्या-व्यवहार-जनित त्रिदोष-सन्निपात का फल तो तत्काल भाव मृत्यु और परम्परा से पुनर्जन्म-सन्तति-रूप संसार ही है, अतः यदि आत्म कल्याण चाहते हो तो सन्निपातियों का बकवास मत सुनो। यदि सुनने में आ गया हो तो उसे सही मत मानो और न तदनुरूप आचरण बनाओ। येन-केन प्रकारेण यदि उनकी बातों में आकर आचरण-चक्र में फँस गये हो तो उससे उदासीन हो जाओ, क्योंकि जो केवल नीरस और निःसार है उसमें अनुरक्त क्यों होना ?

५. यदि नीरस और निस्सार असद्गुरु एवं उनके बताये हुये अन्ध-मार्ग में ही अनुरक्त रहोगे, तो भला ! अठारह दोषों से परि-मुक्त देह-देवल-स्थित केवल चैतन्यमूर्ति-रूप शुद्धदेवतत्व, अखण्ड आत्म-लक्ष्य वाले द्रव्य-भाव निर्ग्रन्थ-रूप शुद्धगुरुतत्त्व और मोह-क्षोभ रहित आत्म-परिणाम-रूप शुद्ध धर्मतत्त्व की वास्तविक पहचान किस तरह कर सकोगे ? क्योंकि असद्गुरु को इन तीनों हो तत्त्वों का साक्षात्कार तो है नहीं। और तत्त्व-त्रयी की वास्तविक पहचान के बिना पार-मार्थिक शुद्ध स्वतत्त्व को अनुभव-गोचर करने वाले सम्यक्-श्रद्धा-प्रयोग को प्राप्त करने का अवसर भी किस तरह हाथ लगेगा ?

भूतकाल में इस जीव ने बहुत-से जन्मों में देव और धर्म की आराधना की एवं अब तक करता चला आ रहा है, पर सद्गुरु के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय और आश्रय के बिना देव, धर्म एवं तत्तुल्य स्वात्मा के वास्तविक स्वरूप की समझ तथा दिल के दीपक को सुलगाने वाला सम्यक्-श्रद्धा-प्रयोग हाथ न लगने से, वह सारा परिश्रम निष्फल ही सिद्ध हुआ, अतः मुमुक्षुओं के लिये सद्गुरु का निश्चय और आश्रय नितान्त आवश्यक है।

श्रद्धा शब्द का रहस्य निम्न प्रकार है :—

श्रत्+धा+अङ्+टाप्=श्रद्धा। 'श्रत्' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु से श्रद्धा शब्द बना है। श्रि+इति=श्रत् अर्थात् फैली हुई चैतन्य रोशनी का धा-धारण और पोषण करना। मतलब कि देखना और जानना—यह चेतन का स्वभाव है अतः देखने-जानने के लिये चेतना-टार्च का मन-रूप स्वीच दबाकर चैतन्य प्रकाश को फैलाना और कार्य समाप्ति पर्यन्त उसे धारण-पोषण किये रहना, चेतन के इस प्रयोग को संस्कृत-भाषा-भाषियों ने श्रद्धा शब्द से पुकारा। यह श्रद्धा प्रयोग दो प्रकार का होता है—एक मिथ्या और दूसरा सम्यक्। जबकि द्रष्टा को भूल कर केवल शरीर आदि पर दृश्य-प्रपंच को ही देखने जानने के लिये यह प्रयोग किया जाता है तब यह चैतन्य-प्रकाश और पर दृश्य-प्रपंच दोनों के मिथ-पारस्परिक सम्पर्क पूर्वक बहिर्मुख होता है अतः उस हालत में इसे मिथ्या-श्रद्धा कहते हैं; एवं जब केवल द्रष्टा को ही देखने-जानने के लिये यह प्रयोग किया जाता है तब बहिर्मुख फैली हुई चैतन्य रोशनी को अन्तर्मुख समाना अनिवार्य हो जाता है, अतः सम्यक् चैतन्य-प्रकाश को द्रष्टा की ओर अच्छी तरह समा कर किये जाने वाले इस प्रयोग को सम्यक्-श्रद्धा कहते हैं। यहाँ दूसरे किसी के साथ सम्पर्क तो है नहीं क्योंकि चेतन और चैतन्य-प्रकाश, सूर्य-विम्ब और सूर्य-प्रकाशवत् अभिन्न एक हैं अतः मिथ्या शब्द का यहाँ काम नहीं है।

जो लोग "ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या" इस सूक्त से जड़-सृष्टि का समूचा अभाव और केवल अद्वैत-ब्रह्म का ही सद्भाव मानते हैं—यह उनका कोरा भ्रम है, ब्रह्म नहीं; उन्हें ब्रह्म-शब्द के रहस्यार्थ की गम ही नहीं है। एवं जो लोग सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की दुहाई देकर भी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने चैतन्य-प्रकाश को द्रष्टाकार नहीं समा पाये अतः द्रष्टा के विस्मरण पूर्वक ही अपनी दृष्टि को दृश्याकार भटका रहे हैं, वे चाहे अपने आपको सम्यक्त्वी और दूसरों को मिथ्यात्वी भले मान लें पर हैं खुद ही सरासर मिथ्यात्वी, क्योंकि उन्हें सम्यक्-दशा ही नहीं है। वास्तव में मान्यता का कोई फल नहीं है पर दशा का फल है। सुदेव, सुगुरु और सुधर्म तो सम्यक्-श्रद्धा के प्रयोग में निमित्त-मात्र आदर्श हैं। साधकीय जीवन में उनका निश्चय और आश्रय ग्रहण करके यदि उन्हें निमित्त-कारणता का मौका दिया जाय तो अपनी उपादान-शक्ति को व्यक्त होने की भी कारणता सध जाय, फलतः सम्यक्-श्रद्धा-प्रयोग-रूप कर्य सिद्ध हो जाय। सम्यक्-श्रद्धा-प्रयोग हस्तगत हो जाने पर विश्व-प्रपंच में से जो भी देखना हो वह सब चैतन्य-दर्पण में स्वतः ही झलकता है, बहिर्मुक देखने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी लिये जिनवाणी में बताया गया है कि "एगं जाणई से सव्वं जाणइ" अर्थात् जो एक को जानता है वह सब को जानता है—यह कोरा युक्तिवाद नहीं अपितु अनुभव-इशारा है, अतः मिथ्या-श्रद्धा-प्रयोग द्वारा आत्म-शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय करना मुमुक्षुओं के लिये उचित ही नहीं है।

प्रियजन ! यदि आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हों तो शुद्ध-श्रद्धान अर्थात् श्रद्धा के सम्यक् प्रयोग को अपनाओ। इसके बिना की जाने वाली समस्त धार्मिक-क्रियायें क्षार-भूमि के उपर किये हुये गोबर मिट्टी के लिम्पन तुल्य अर्थ-हीन है, क्योंकि लक्ष्य-शून्य क्रियाओं से लक्ष-वेध-तमोग्रन्थि का भेदन और आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता—इस तथ्य को ठीक समझो; और असद्गुरु की निश्रा में क्रियान्ध बन कर 'अप्पाणं वोसिरामि' अर्थात् समूची आत्मा को ही मत विसर्जन करो किन्तु आत्मा में से देहात्म-बुद्धि का परित्याग करो। जिनवाणी में स्पष्ट-रूप से बताया गया है कि "हयं नाणं किया होणं, हया अन्नाणिणो किया।" अर्थात् ज्ञाप्ति-क्रिया विहीन शुष्क-ज्ञानियों का ज्ञान भी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निरर्थक है एवं अज्ञानी क्रिया जड़ों की स्वरूपानुसन्धान विहीन करोति-क्रिया भी निरर्थक है—इस तथ्य को ध्यान में लो।

६. साधु जीवन की सार्थकता आत्म-रमणता-रूप शुद्ध चारित्र पर ही निर्भर है। लक्ष को सर्वथा आत्माकार विरति पूर्वक ही शुद्ध चारित्र की आराधना हो सकती है। आत्म लक्ष की अखण्ड-धारा प्रगटाने के लिये दिगम्बर साहित्य में ग्यारह श्रावक-प्रतिमाओं का विधान और तदनुसार आराधन-क्रम का प्रचार उस सम्प्रदाय में तो प्रचलित है ही ; पर श्वेताम्बर साहित्य उपासकदशांग आदि सूत्रों में भी श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं का व्यवस्थित आराधन-क्रम बताया गया है; जिस क्रम में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं के प्रतिपालन पूर्वक ही उत्तरोत्तर प्रतिमाओं में प्रवेश होता है। तदनुसार सर्वप्रथम एक मास तक योग-उपधान विधि से परमेष्ठी-मंत्र आदि की सिद्धि द्वारा आत्म-साक्षात्कार-रूप दर्शन-प्रतिमा (१) की आराधना की जाती है; क्योंकि आत्म-दर्शन के बिना आत्म-लक्ष जम नहीं सकता। आत्म-साक्षात्कार तक का अनुभव-क्रम श्री सुविधिनाथ-स्तवन में पूजन रहस्य द्वारा संक्षेपत: बता दिया है। आत्म-द्रष्टा को स्वरूपानुसन्धान के लिये समाहित-चित्त और निवृति काल अनिवार्य है अतः पाँच अणुव्रत, तीन अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत-रूप व्रत-प्रतिमा (२) की आराधना भी अनिवार्य हो जाती है। दो माह तक के अभ्यास से निरतिचार व्रत-पालन सिद्ध हो जाने पर आत्म लक्ष से साधक को जो आत्मतुष्टी मिलती है उससे उसे अधिकाधिक निवृत्ति आवश्यक हो जाती है अतः वह त्रि-सन्ध्या-सामायिक प्रतिमा (३) को नित्य, नियमित और निरतिचार आराधना करता है। तीन माह तक के अभ्यास से जबकि निवृत्ति-काल में अहोरात्र स्वरूपानुसन्धान टिकाने की योग्यता सध जाय तब अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या—इन पर्व दिवसों में उपवास-पूर्वक अहोरात्र आत्मलक्ष के प्रकृष्ट औषध-रूप पौषध-प्रतिमा (४) की निरतिचार आराधना करता है । चार माह तक के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस अभ्यास से चार प्रहर तक एक ही आसन में बैठने की योग्यता आ जाने पर पर्व तिथियों में पौषध के साथ रात्रिभर कायोत्सर्ग-प्रतिमा (५) पूर्वक आत्म लक्ष की आराधना करता है। यहाँ साधक के रात्रि-भर भजन की ही विशेषता है, रात्रि-भोजन त्याग की नहीं क्योंकि वह त्याग तो व्रत प्रतिमा में ही हो चुका है। और दिवा-मैथुन तो मानवता से भी बाहर है अतः उसका साधकीय जीवन में प्रथमतः निषेध ही है। पाँच माह तक पाँचमी प्रतिमा को निरतिचार आराधना द्वारा बढ़े हुये ब्रह्मानन्द से विषयानन्द स्वतः छूट जाता है। अतः साधक आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिमा (६) अंगीकार करता है। छह माह तक निरतिचार ब्रह्मचर्य पूर्वक पूर्वोक्त आराधना से छकी-सी आत्मदशा में उस साधक का हृदय उत्तरोत्तर इतना कोमल बन जाता है कि वह आगे की प्रतिमाओं में पूर्वोक्त साधन-क्रम द्वारा ही उत्तरोत्तर निवृत्ति बढ़ाकर निम्न प्रकार को अखण्ड आत्म लक्ष की बाधक शेष वृत्तियों को परिक्षीण करता हुआ स्वरूपानुसन्धान की विशेषता एवं दृढ़ता सिद्ध करता जाता है ब्रह्मचर्य-निष्ठा के कारण उसे घट-घट में ब्रह्म-स्वरूप विशेषतः स्पष्ट दिखाई देता है अतः उसे सचित्त खान-पान में बड़ा आघात पहुँचता है, फलतः वह आजीवन सचित्त-आहार त्याग प्रतिमा (७) अंगीकार कर लेता है। सात माह तक इस प्रतिज्ञा के निरतिचार प्रतिपालन से बढ़ी हुई कोमलता वश वह अपने हाथों आरम्भ कर नहीं सकता अतः वह स्वयं-आरम्भ-वर्जन-प्रतिमा (८) धारण करके उसके निरतिचार प्रयोग द्वारा आठ माह में उस वृत्ति का अन्त कर लेता है। अब दूसरों के हाथों आरम्भ कराने की भी वृत्ति नहीं उठती अतः परिग्रह-जाल भी अखरता है फलतः वह आरम्भ कराने का एवं परिमित संयमोपकरण के अतिरिक्त अतिरिक्त समस्त परिग्रह का आजीवन सर्वथा परित्याग कर देता है। नव माह तक इस नवमी प्रतिमा के प्रतिपालन से उसके हृदय की कोमलता

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तो पराकाष्टा पर पहुँच जाती हैं अतः वह आरम्भ-परिग्रह की अनुमति देने में ही अपने आप को असमर्थ पाता है जब कि पारिवारिक, मित्र आदि सलाह के लिये बार-बार तंग करते हैं तब उसे गृहवास भी अखरता है फलतः वह साधक आरम्भ-परिग्रह की अनुमति का भी परित्याग (१०) कर लेता है। फिर वह गृहवास से निवृत होकर सद्गुरू-चरणों में किंवा उनका सहयोग न मिलने पर पौषध-शाला, उपवन आदि विविक्त स्थानों में निवास करता है। उद्दिष्ट-आहार-त्याग न होने से आमन्त्रण मिलने पर गृहस्थ के घर एक वार भोजन कर लेता है। अनुमति-वृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म होती है अतः दश माह तक के निरतिचार अभ्यास से उस पर सम्पूर्ण विजय पाकर श्रमण-तुल्य-प्रतिमा (११) अपनाता है। अब उद्दिष्ट खानपान का भी परित्याग करके वह ठाम-चौविहार भिक्षान्न-भोजी, एक वस्त्र और एक पात्र धारी साढ़े पाँच माह तक शीत आदि परिषह सह कर फिर केवल कटिवस्त्र-कोपीन धारण करता है। श्रमण तुल्य इस दशा में फिर साढ़े पाँच माह तक अचेलकत्व और पाणि-पात्र की क्षमता प्राप्त करता हुआ प्रवृत्ति-चक्र में सर्वत्र आत्मलक्ष की अखण्डता पर सर्वथा अधिकार पा लेता है। इस तरह साधक साढ़े पाँच साल तक के अदम्य साहस और अथक पुरुषार्थ से लक्ष की सर्वथा आत्माकार विरति की सिद्धि करके सद्गुरु कृपा से सर्व-विरतिधर सच्चा साधु बनता है।

सर्व-विरति दशा में वह प्रधानतः सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान-धारा को स्वरूप-गुप्त करके अखण्ड आत्मरमणता द्वारा अपने आत्म-वैभव से महा प्रतापवान और अप्रमत्त रह कर शेष घाती-कर्म-मल का परिशोधन करता रहता है; तथा गौणतः आत्म-लक्ष की अखण्डता पूर्वक समितिवान रह कर विश्व हित करता है। यह जैन-साधु, साधुदशा के क्षमा आदि दशविध यतिधर्म और अचेलक आदि दशविध यति-आचार का निरतिचार प्रतिपालन करता हुआ स्व-पर निस्तारक होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षमाश्रमणों के लिये जिनागम में बतायी हुई सर्व-विरति पद पर पहुँचाने वाली यह सर्व-विरति की भूमिका-रूप श्रमणोपासकीय ग्यारह-प्रतिमा श्रेणी को विच्छेद बता कर आत्म-साक्षात्कार और आत्म लक्ष के बिना ही स्वयं श्रमण-पद पर आरुढ़ हो जाना एवं तद्वत् दूसरों को भी आरूढ़ करना—यही हुंडा-अवसर्पिणी काल का असंयती-पूजा नामक अच्छेरा-आश्चर्य है, क्योंकि सीढ़ियों को पार किये बिना ही उपरितन मंजिल पर चढ़ जाने तुल्य ही यह कोरा दुस्साहस है। सर्वविरति की पूर्व-भूमिका का ही यदि वर्तमान में विच्छेद है, तो भला ! सर्व-विरति पद का अविच्छेद कैसे सिद्ध हो सकता है ? पर कलिकाल के अन्धाधुन्ध साम्राज्य में जितनी भी उत्सूत्र-प्ररूपणा हो उतनी ही कम है।

अचेलक शब्द का अर्थ तो (न+चेल—अचेलः, अचेल एवं अचेलक) वस्त्र का न होना ही सिद्ध है—यह तो सामान्य शिक्षित भी जानता है, फिर भी उस असली अर्थ को मरोड़ कर उसे जीर्ण, मानोपेत और स्वेत-वस्त्र के रूप में बदल देना, किस घर का न्याय है ? यदि अचेलक रहने की क्षमता न हो तो अपनी शक्ति अनुसार निचली भूमिकाओं पर रहने में क्या आपत्ति है ? उत्सूत्र प्ररूपणा और आचरणा द्वारा व्यर्थ ही भव-भ्रमण बढ़ाने में क्या लाभ है ? जिनागम में तो प्रकट-रूप से घोषित किया गया है कि—

'विश्व में उत्सूत्र-भाषण तुल्य दूसरा कोई महापाप नहीं है और जिन-कथित वीतराग-धर्म तुल्य दूसरा कोई पारमार्थिक सर्वोत्कृष्ट धर्म नहीं है।' जिनागमसूत्रों में बताया गया है कि मोक्ष, क्रियमाण-कर्मों का संवर और कृत-कर्मों की निर्जरा पूर्वक ही हो सकता है, अतः रत्नत्रय रूप मोक्ष-मार्ग भी संवर-निर्जरात्मक अबन्ध-आत्म-परिणाम स्वरूप ही है फलतः सम्यक् चारित्र क्रिया भी संवर-क्रिया-स्वरूप प्रसिद्ध है। सूत्रानुसार यह सम्यक् क्रिया जो भी उत्तम महात्मा करते हों, केवल उन्हीं का चारित्र ही शुद्ध समझो। शुभाशुभ उपयोग से जो सतत आश्रव-क्रिया में ही रम रहे हों उन का चारित्र मोक्ष-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मार्गोचित शुद्ध नहीं है—वह तो मिथ्या चारित्र है। उसी से ही संसार पनप रहा है; अतः यदि सद्गुरु के शरण को खोज रहे हो तो सर्व प्रथम सूत्र की कसौटी से कस कर गुरु की परीक्षा करो। केवल गड़रिया-प्रवाह में मत बहो।

७. सुज्ञ! चारित्र-विषयक यह ज्ञानियों के सदुपदेश का संक्षिप्त सार है। हंस-चञ्चु-न्यायवत् जो भी आत्मार्थी-मनुष्य इस बोधामृत के पान से अपने चित्त को प्रतिदिन सतत प्रभावित रखते हुए शुद्ध चारित्र मार्ग में समुद्यत रहेंगे, उन महामानवों को अधिक से अधिक केवल सवा साल में ही अनुत्तर-विमान-वासी देवों के सुख को लांघ कर अनुपम सिद्ध-सुख का साक्षात् अनुभव होगा—इसमें जरा भी सन्देह नहीं। दिव्य-ध्वनि, दिव्य-दर्शन, दिव्य-सुगन्ध, दिव्य-रस और दिव्य-स्पर्श तो उन्हें आत्म-साक्षात्कार के पूर्व ही अनुभव पथ में आजायेंगे, पर उनमें अटकना मुमुक्षुओं को उचित नहीं। काल दोष वश यदि स्वरूपाचरण में पुरुषार्थ-मन्दता रहे, तो कोई आश्चर्य नहीं पर इस अभ्यास के प्रताप से यदि देवायु बँध गया तो इस देह-पर्याय के पश्चात् इन्द्र-अहमिन्द्र पद पर विश्राम लेकर वहाँ से अथवा सीधा तीर्थङ्कर भूमि में पुनः महामानव बन कर सुदीर्घ काल तक दिव्य-सुखों का अनुभव करके वे पुनः चारित्र-श्रेणी पर आरूढ़ हो जायेगें। और घाती-अघाती को समूल-घात द्वारा उसी पर्याय में भवान्त करके वे पुष्ट ज्ञानानन्द-स्वरुप अखण्ड स्थिर सिद्ध-साम्राज्य को पाकर कृत कृत्य हो जायेगें—यह सुनिश्चित है।

प्रचारक—अहो! आपने अपना अनन्य-शरण-दान और अमुल्य बोधामृत पान कराकर हम पामरों पर वह उपकार किया है जिसका कि बदला ही चुकाया जा न सके। हमें विश्वास हो चुका है कि आपकी कृपा से अब हमें मोक्ष हथेली में है, क्योंकि हमारे लिये तो आप ही प्रत्यक्ष मोक्ष-स्वरुप हैं। आपके मिलने पर हमें तो सब कुछ मिल गया।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री धर्म जिन स्तवन

(राग गौडी सारंग रसियानी देशी)

धरम जिनेसर गाऊँ रंग सूं, भंग म पडज्यो हो प्रीत ।
बीजो मन मन्दिर आणूं नहीं, ए अम्ह कुलवट रीत ।। धरम० ।।१।।

धरम धरम करतो जग सहु फिरे, धरम न जाणे हो मर्म ।
धरम जिनेसर चरण ग्रह्याँ पछी, कोइ न बंधै हो कर्म ।। धरम० ।।२।।

प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करै, देखे परम निधान ।
हृदय नयन निहालै जग धणी, महिमा मेरु समान ।। धरम० ।।३।।

दोडत दोडत दोडत दौडियो, जेती मननी हो दौड ।
प्रेम प्रतीति विचारो ढूकडी, गुरुगम लीजो हो जोड ।। धरम० ।।४।।

एक पखी किम प्रीत बरै पड़े, उभय मिल्या होय संधि ।
हूँ रागी हूँ मोहे फंदियो, तू नीरागी निरबंधि ।। धरम० ।।५।।

परम निधान प्रगट मुख आगलै, जगत उलंघी हो जाय ।
ज्योति बिना जोवो जगदीसनी, आंधो अंध पुलाय ।। धरम० ।।६।।

निरमल गुणमणि रोहण भूधरा, मुनिजन मानस हंस ।
धन ते नगरी धन बेला घड़ी, मात पिता कुलवंस ।। धरम० ।।७।।

मन मधुकर वर कर जोडी कहै, पद-कज निकट निवास ।
घन नामी 'आनन्दघन' सांभलो, ए सेवक अरदास ।। धरम० ।।८।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१५. श्री धर्मनाथ-स्तवनम्

धर्म का मर्म :

एक स्वरूप-जिज्ञासु वास्तविक-धर्म की खोज में यत्र-तत्र भटकता हुआ सन्त आनन्दघनजी के सानिध्य में उपस्थित हुआ और बाबा की अवधूत आत्मदशा का दर्शन पाकर बहुत प्रभावित हुआ। उसे विश्वास हो गया कि मेरे दिल की दुविधा यहीं मिट सकेगी। अतः बड़ी श्रद्धा से विनयान्वित होकर उसने बाबाजी से निवेदन किया कि:—

भगवन्! मैं आत्म-कल्याण की कामना वश सुदीर्घ काल से धर्म की खोज में सर्वत्र भटक रहा हूँ। मैंने बहुत से धर्म-सम्प्रदायों का परिचय किया, अनेक गुरुजनों से मिला और उनके उपदेश और सिद्धान्त-साहित्य पर भी यथाशक्ति मनन किया पर अबतक मुझे कहीं से भी धार्मिक सन्तोष नहीं मिला। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की भिन्न-भिन्न धार्मिक-प्ररूपणा सुनकर मैं तो हैरान हो गया कि 'विश्व में सच्चा धर्म और सच्चा-देव कौनसा? किस ढंग से प्रभु-भक्ति करने पर धर्म का साक्षात्कार हो सकता है? कि जिस धर्म से हम कर्म-बन्धन से शीघ्र छूट कर भव-पार हो जायँ।

१. सन्त आनन्दघन—भैया! धर्म कोई बाजारू-चीज थोड़ी है! कि जो बाहर ढूँढने पर कहीं से मिल जाय। वह तो आत्मीय चैतन्य-खजाने का अनुपम परम-धन है, कि जिसकी अनुभूति, मोह-क्षोभ रहित केवल चैतन्य के वीतराग शुद्ध परिणमन-स्वरूप आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मस्थिरता द्वारा ही सम्भव है। मोह-क्षोभ को जीतने पर ही उसकी उपलब्धि हो सकती है अतः उसे 'जिन' विशेषण लगाया जाता है। दूसरे चाहे लाख प्रयत्न कर लें, पर मोह-क्षोभ को जीतकर जिन हुये बिना धर्म का स्वरूप हाथ नहीं आता। जिन्होंने जिन होकर अपनी आत्मा में धर्म का साक्षात्कार कर लिया, उन्होंने सम्पूर्ण आत्म-ऐश्वर्य पा लिया। उस सहजात्म-स्वरूप दशा में 'जिनेश्वर' संज्ञा देकर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्त-जन उन्हें अपना उपास्य देव बनाते हैं, पर वे 'परमगुरु' कर्तृत्व-अभिमान-शून्य, गुरु-शिष्य के व्यवहार से उदासीन और नाम रूप से परे हैं। फिर भी कमाल है ! कि जिन नाम-रूप से भजते, उस नाम-रूप में ही उनके दर्शन होते हैं, यावत् उनको भजने वाला उन जैसा ही बन जाता है।

यदि तुम्हें धर्म का साक्षात्कार करना है तो निष्काम हृदय से एकमात्र इन्हीं धर्म-जिनेश्वर को एक निष्ठा से भजो और सब झंझट तजो। अपने पास जो भी प्रेमधन है, वह सारा एकत्रित करके इन्हीं के चरणों में चढ़ा दो कि जिसे तुम कामराग, स्नेहराग और दृष्टि-राग-रूप त्रिवेणी-प्रवाह से व्यर्थ ही बाहर बहा रहे हो। अपने मन-मन्दिर में अब तो बस, एक इन्हीं धर्म-मूर्ति को ही प्रियतम के रूप में प्रतिष्ठित कर लो और 'तन-मन एक ही रंग' से चुपचाप इन्हीं की भक्ति किया करो। यदि चुप न रहा जाय तो वाणी को इन्हीं के गुणग्राम में लगा दो और जिन-चरणों के प्रति बहते हुये प्रेम-प्रवाह को सर्वथा अभंग रखो। किसी भी देश, काल और परिस्थिति से उस प्रेम-प्रवाह के प्रवहन में भंग न पड़ जाय—इसके लिए पूर्णतः सावधान रहो। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि इन्हीं की भक्ति से तुम्हें अवश्य धर्म का साक्षात्कार होगा, क्योंकि मुझे भी जो कुछ अनुभव हुआ और हो रहा है—वह सब केवल इन्हीं की कृपा का प्रसाद है, अतः प्रियतम के रूप में इन्हें छोड़कर और किसी भी रागी-द्वेषी देव को मैं अपने मन मन्दिर में फटकने तक नहीं देता। अजी ! मैं तो क्या ? हमारे सारे ही स्याद्वादी-खानदान का एक यही गौरव-भरा स्वभाव है कि आराध्य के रूप में वीतराग देव के सिवाय दूसरे किसी को भी अपने हृदय में स्थान न देना। हाँ सतीवत् प्रियतम के सम्बन्धियों के नाते सभी से मिलजुल कर रहने में एवं उनके साथ उचित शिष्टाचार रखने में हमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि शिष्टाचार का त्याग ही मानवता का त्याग है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मानवता को खो देने पर ही धर्म-विद्वेष फैलकर साधकीय हृदय को कलुषित बनाता है यावत् साधना के भी उचित नहीं रहता, अतः परमतसहिष्णुता एवं शिष्टाचार की साधकीय जीवन में अनिवार्यता है क्योंकि सारा विश्व प्रियतम का ही परिवार है और परिवार का बहुमान ही प्रियतम का बहुमान है।

२. अरे बावरे! धर्म-धर्म रटते हुए जगह-जगह धर्म प्राप्ति का उपाय क्यों पूछ रहे हो? क्योंकि सम्प्रदायों के गुरुओं के पास सर्वत्र कोरी साम्प्रदायिकता रह गई है, धर्म नहीं रहा। उन्होंने तो साम्प्रदायिक-अभिनिवेश वश धर्म के मर्म को ही भुला दिया है। तब भला! वे बेचारे सम्प्रदाय-भाराक्रान्त गुरुभारवाही गुरु तुम्हें धर्म के मर्म को कहां से लाकर देगें? शास्त्रों में भी धर्म का मार्ग बताया गया है, मर्म नहीं, क्योंकि धर्म का मर्म तो केवल धर्ममूर्ति सत्पुरुषों के हृदय में ही रहा करता है, जिन्हें कि धर्म का साक्षात्कार हो चुका है; अन्यत्र नहीं।

अजी! साधक के लिए धर्म दुर्लभ नहीं प्रत्युत धर्म का मर्म ही दुर्लभ है क्योंकि धर्म-मर्म को प्रदान करने वाले धर्म-मर्मज्ञों की ही विश्व में सदा स्वल्पता चली आ रही है। पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रकृष्ट उदय में यदि धर्म-मर्मज्ञ और धर्म का मर्म हाथ लग जाय और तदनुसार यदि भगवान धर्म-जिनेश्वर का चरण-शरण मिल जाय तो उनका कोई भी सेवक नूतन कर्म-बन्धन से आबद्ध नहीं होता, क्योंकि नूतन कर्म बन्धन का कारण तो शुभाशुभ कल्पना जाल है। जबकि उस जाल की प्रथमतः बलि चढ़ाये बिना जिन-चरणों का शरण ही नहीं मिलता अर्थात् जिन-चरण को अपना लेना यही जिन-चरण-शरण पाना है। जिन-अनुयायी निज आचरण में भी शुभाशुभ कल्पना को स्थान ही नहीं देते। फलतः जिन-शरणागत सहज ही में निजधर्म ऐश्वर्य प्रकटा कर पूर्व कर्मबन्धन से मुक्त—भवपार हो जाता है। इसीलिए साध-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कीय जीवन में धर्मका मर्म और उसके लिये धर्म मर्मज्ञ की भी शरण नितान्त आवश्यक है, और आवश्यक है अपनी सत्पात्रता को भी अपने जीवन में विकसित करना ।

३. परिग्रह-प्रेम, स्व-दोष छिपाने की वृत्ति, स्वच्छन्दता और असत्संग रुचि का शत्रुवत् परित्याग करके शिष्य जब हृदय-नेत्र वाले प्रत्यक्ष-सद्गुरु के चरणों में अनन्य शरण होकर उनकी आज्ञा-सेवा में एकनिष्ठ हो जाता है एवं जब उसकी सत्सेवा-परायणता पर सद्गुरु की कृपा-नजर उतरती है तब तो वे परम कृपालु निष्कारण-करुणा वश स्वतः ही अपनी योग-शक्ति-रूप शलाका से प्रवचन-अंजन करके शिष्य की अन्तर्चक्षु का उन्मीलन करते हैं अर्थात् स्वानुभूति-क्रम का रहस्य व्यक्त करके उसे निजी गुप्त खजाने को खोलने की कुँजी बताते हैं, जिससे शिष्य का कल्पना-जाल स्वतः समा जाता है और हृदय की उस निस्तरंग-दशा में तिमिर-पट हटकर शिष्य का चैतन्य-खजाना खुल जाता है। जो खजाना विश्वभर के खजानों में परमोत्कृष्ट सार-स्वरूप है, क्योंकि विश्वभर के दूसरे खजानों में तो पृथ्वी के विकार-रूप मणि-माणक, हीरा-पन्ना, सोना-चाँदी आदि मात्र जड़-धन है जो कि चेतन के लिए पर-स्वरूप होने से अनुपभोग्य हैं अतः उससे तृप्ति नहीं होती। जबकि इसमें केवल आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मसमाधि, आत्मानन्द आदि अखूट धर्म धन भरा हुआ है जो कि चेतन के लिए निज-स्वरूप होने से उपभोग्य है अतः इसी से परितृप्ति होती है। इस परम निधान के ताले को खोलने की कुँजी निम्न प्रकार है :—

जैसे सूर्य के आतप में विश्वभर के दाह्य-पदार्थों को भस्मीभूत करने की शक्ति है पर जबतक वह शक्ति बिखरी हुई है, तब तक कार्यक्षम नहीं है। आतपी-काच द्वारा ज्योंहि उसे दाह्य-पदार्थों पर केन्द्रित करते हैं, त्योंही उसमें से अग्नि प्रकट होकर दाह्य-आकृति मात्र को भस्मीभूत करके बिखेर देती है; वैसे ही चेतन-सूर्य के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इच्छा-निरोध-रूप-चैतन्य-आतप में ज्ञानावरण आदि समस्त कर्म-समूह को भस्मीभूत करने की अथाह शक्ति है, पर जब तक वह शक्ति मन-इन्द्रियों के द्वारा बाह्य इन्द्रिय-विषयों में बिखरी हुई है तब तक कार्यक्षम नहीं है, परन्तु सद्गुरु-कृपा से मन इन्द्रियों के जय पूर्वक गुप्ति-गढ़ पर चढ़कर ज्योंहि उसे अन्तर्मुख अनाहत-चक्र पर केन्द्रित-संवर करते हैं, त्योंहि उसमें से ज्ञानाग्नि सुलग कर वह हृदयस्थ आवरण-पट को भस्मीभूत करके बिखेर देती है, फलतः अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। इसी दृष्टि से हृदय-प्रदेश में जब देखो तब त्रिजग स्वामी परम कृपालु श्री जिनेन्द्रदेव साक्षात् धर्म-धन-मूर्ति के रूप में नजर आते हैं। इन हृदयस्थ प्रभु-चरणों में आत्म समर्पण करके प्रभु-छवि को एक टक देखते-देखते ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है त्यों-त्यों चैतन्य प्रकाश भी बढ़ता हुआ यावत् सूर्य-चन्द्र के प्रकाश से भी अधिक हो जाता है। उसी प्रकाश द्वारा गुप्ति-गढ़ के षट्-चक्र आदि कोठों के व्यूह से कर्म-शत्रु के चक्र-व्यूह का सर्वांग भेदन किया जाता है जिससे चैतन्य प्रकाश भी सर्वांग फैल जाता है। उस सर्वांग प्रकाश में भगवान के साकार-स्वरूप का जब लय हो जाता है तब आत्मा और परमात्मा का अभेद-अनुभव-रूप आत्म साक्षात्कार होता है। फिर क्रमशः आत्म प्रतीति, आत्म-लक्ष और आत्म-स्थिरता धारा को अखण्ड सिद्ध करके साधक-आत्मा, साध्य-परमात्म-पद पर आरूढ़ होकर त्रिजग-पूज्य बनता है—यह सब धर्म-धन की प्रत्यक्ष साकार-मूर्ति श्री जिनेन्द्र देव की महिमा है, जो महिमा मेरुवत् स्थायी, अडोल और अचिन्त्य है। साकार उपासना का यही रहस्य है। इसके बिना सीधे निराकार-उपासना में प्रवेश करना आसान नहीं है। इन दोनों उपासना-पद्धति का रहस्य निम्न प्रकार है :—

जैसे क्षुधा रोग शान्त करने के लिए सूखे चावल पात्र में छोड़े बिना ही अग्नि पर सिझाते हैं तो वे तत्काल कोयले होकर खाने योग्य भी नहीं रहते ; पर यदि उन्हें किसी पात्र में छोड़, जल मिलाकर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कुशलता से सिझाया जाय तो सीझने पर उनमें रस पैदा हो जाता है, जिससे उदराग्नि शान्त हो सकती है। वैसे ही भव रोग मिटाने के लिए सीधे निराकार आत्म-ध्यान करना तो मानो पात्र बिना ही चावल सिझाना है, परिणामतः साधकीय चेतना अभिमान आदि अग्नि से झुलस जाती है, जो साधना के भी उचित नहीं रहती। परन्तु यदि उसे परमात्म-स्वरूप प्रेम-पात्र में अर्पित करके प्रेम-जल से सींच कर सिझाया जाय तो वह सकुशल सीझ कर उसमें आनन्द-रस प्रकट हो जाता है, जिससे सुगमतया साधकीय हृदय की त्रिविध-तापाग्नि शान्त हो जाती है यावत् भव-रोग मिट जाता है। अतः प्रेम-लक्षणा-भक्ति पूर्वक साकार उपासना से आत्म-साक्षात्कार करके ही निराकार आत्म ध्यान हो सकता है, सीधे ही नहीं। इसीलिये भक्ति मार्ग को सरल मार्ग कहा है। आत्म साक्षात्कार के पूर्व साकार उपासना के बिना साधक, या तो शुष्कज्ञानी बन जाता है ; या क्रिया जड़। वैसी हालत में इस डिब्बे को कोई आत्मज्ञ-इंजन की शरण लेकर उनके पीछे-पीछे चलने के सिवाय चारा ही नहीं है। अन्यथा वह दृष्टि-अन्ध, स्टेशन पर ही पड़ा रहेगा, पर गन्तव्य स्थल की ओर एक कदम भी बढ़ नहीं सकेगा।

समिति-गुप्ति-रूप साध्वाचार में गुप्ति-काल तक कर्म शत्रुओं से धर्म-युद्ध चलता है। उसमें थकने पर समिति-काल तक धर्मयुद्ध में आगे बढ़ने के लिये उचित साधन-सामग्री और क्षमता जुटा ली जाती है। बीच के अवकाश में कोई उदारचेता योद्धा निष्कारण करुणावश शरणागतों को धर्मयुद्ध का महात्म्य समझाकर तदनुकूल तालीम भी सिखाते हैं।

जैन साध्वाचार में प्रतिक्रमण आदि सभी क्रियाओं के विधि-निषेध, केवल धर्मयुद्ध कौशल भरी योग-साधना है। जिसमें जिनदशा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का अवलम्बन और तदनुरूप स्वरूपानुसन्धान पूर्वक आसन और मुद्रा के साथ स्वाध्याय तथा ध्यान-श्रेणि बतायी गई है। स्वाध्यायात्मक प्रत्येक सूत्र सम्पदा एवं ध्यानात्मक प्रत्येक कायोत्सर्ग में मन और पवन को एक साथ रखने का विधान है, अतएव प्रत्येक कायोत्सर्ग में अमुक श्वासोच्छ्वास की परिगणना सूचित की जाती है, जो अनाहत-ध्वनि के अनुभव की कुँजी है। श्वासोच्छ्वास और तैजस शरीर के घर्षण से यह अन्तर्नाद सदोदित गुँजता ही रहता है, पर लक्ष की बहिर्मुखता के कारण सुनने में नहीं आता। सामान्यतया यह ध्वनि शंख-ध्वनि वत् 'ओम्' कार के उच्चारण-रूप ध्वनित होती है अतः इसे ॐकार ध्वनि भी कहते हैं। और इसे ही आठ प्रतिहार्यों में दिव्य-ध्वनि कहते हैं। हारमोनियम और तान्त्रिक आदि वाद्यों में प्रथम यही ध्वनि व्यक्त होती है। मन-पवन की एकता से, बिना बजाये स्वतः बजने वाली इस अनाहत-दुन्दुभि द्वारा उच्चार्यमाण-सूत्र, गद्य-पद्यात्मक संगीत-रूप में परिणत होकर मन को अन्तर्मुख मुग्ध कर देते हैं, फलतः अन्तर्लक्ष सुगम हो जाता है। फिर अन्तर्लक्ष से क्रमशः साकार-दर्शन, सुधारस आदि का स्वतः अनुभव होता है, जो मन स्थिरता के उत्कृष्ट सहारे हैं। स्थिर-मन जब आत्म-प्रदेश में पहुँचता है तब ये नाद आदि का लय हो जाता है—ऐसा सुदृढ़ अनुभव है।

बड़े खेद की बात है कि वर्तमान में गुरुगम के अभाव वश दिगम्बर और श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायों में कोरी क्रिया-जड़ता फैली हुई है, इसीलिये त्याग और वैराग्य आत्मानुभूति के कारण न बन कर अभिमान के कारण बनते हैं। फलतः धार्मिक-झगड़ों में साधक स्वयं उलझ कर दूसरों को भी उलझा देते हैं, यावत् अनुयायी-वर्ग समेत ये लोग कल्याण-मार्ग से लाखों योजन दूर निकल चुके हैं। इसीलिये वे वीतराग धर्म की दुहाई देकर इतना राग-द्वेष फैला रहे हैं।

४. भैया ! अच्छा हुआ कि तुम अबतक किसी भी सम्प्रदाय-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जाल में नहीं फँसे, अन्यथा उस 'टके गज की चाल' से छूटना ही मुश्किल हो जाता।

धर्म-धन पाने के लिये मैंने तो प्रारम्भ में सम्प्रदाय-जाल में फँस कर क्रियावन में मृगवत् खूब दौड़ा-दौड़ी की। साहित्यवन में भी मन को जितना दौड़ाया जा सके, अतिशय दौड़ाया। यावत् शाखा-प्रशाखा समेत प्रत्येक दर्शन-वृक्ष की छानबीन की पर सर्वत्र "अन्धेरी नगरी में गण्डुसेन राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा" ही देखने में आये, अतः कहीं से कुछ भी मेरे पल्ले नहीं पड़ा और मेरी घुड़दौड़ व्यर्थ सिद्ध हुई। इतने पर भी मैं नाशीपाश न हुआ। आखिर मूल मार्ग की संकलना पर गहराई से चिन्तन करते करते एक दिन अन्तर्लक्ष जमते ही यकायक परदा हटा और जाति-स्मरण हो आया। सिनेमा की फिल्मवत् पूर्व के अनेक जन्म क्रमशः देखने में आये। जिनमें से कितने ही जन्मों में जैन साधु था। तीर्थङ्कर निश्रा में भी मैंने वीतराग मार्ग की आराधना की थी, अतः मूल मार्ग का सांगोपांग आराधन-क्रम स्मृति में आ गया। फलतः साम्प्रदायिक-जाल से मुक्त होकर मैंने निकट की प्रेम-गली में ही अपने पियु को पाया। तब मुझे अपने आप पर हँसी आयी कि अरे! पियु तो अपने भीतर ही है जिसे कि मैं बाहर क्रिया और साहित्य-वन में ढूँढ रहा था। खैर! जिनेन्द्र देव की कृपा से मुझे अपना परम निधान हाथ लग गया जो केवल धर्म-धन से ही भरा हुआ है। अतएव तब से मुझे सुदृढ़ प्रतीति हो चुकी कि साधना-क्षेत्र में आत्म-साक्षात्कार के लिये प्रेम-लक्षणा-भक्ति तुल्य दूसरा कोई सर्वोत्तम साधन नहीं है। यह भक्ति मार्ग सरल होने पर भी उतना ही कठिन है जितना कि मोम के घोड़े पर चढ़ कर आगी में चलना। इसीलिये इसमें गुरुगम अत्यन्त आवश्यक है और उसके लिये आवश्यक है प्रत्यक्ष आत्मज्ञानी सद्गुरु का निश्चय और आश्रय। यदि सद्गुरु के परीक्षण में भूल हुई तो असद्गुरु की निश्रा में यह भक्ति-मार्ग गोप-लीला और पोप-लीला का कारण बन जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आश्रय के विषय में भी एक बात ध्यान रखने योग्य है—मुमुक्षु के लिये परोक्ष सर्वज्ञ और प्रत्यक्ष आत्मज्ञ के आश्रय में उतना ही अन्तर है जितना कि प्यासे के लिये दूरवर्ती परोक्ष क्षीर समुद्र और निकटवर्ती प्रत्यक्ष मीठे जल से भरा एक कलशा। एवं सद्गुरु और असद्गुरु के आश्रय में भी उतना ही अन्तर है जितना कि मीठा और खारा जलाशय। क्षीर समुद्र के परोक्ष मीठे जल की आशा में तथा प्रत्यक्ष नमकीन जलपान से प्यासे का प्राणान्त हो सकता है, जबकि प्रत्यक्ष छोटे-से कलशे के मीठे जलपान से प्यासे को जीवन दान मिलता है। प्रत्यक्ष ज्ञानी के अभाव वश परोक्ष ज्ञानी के आश्रय में ही प्राणों की बाजी लगा देना अच्छा है, क्योंकि प्राणान्त बाद प्रत्यक्षज्ञानी का आश्रय अवश्य मिलता है, जहाँ कि भवान्त कर सकें किन्तु भव-भ्रमण बढता नहीं है; जबकि प्रत्यक्ष असद्गुरु के आश्रय में, चाहे वह लवण-समुद्रवत् अथाह विद्वान हो, परन्तु उसके नमकीन जलवत् बोध पान से केवल भोग तृष्णा ही बढ़ती है, फलतः भव-भ्रमण भी बढ़ता है, कम नहीं होता।

सर्वज्ञ किंवा आत्मज्ञ के प्रत्यक्ष-बोध को गुरुगम कहते हैं। उन्हें आत्मा हाजराहजूर है अतः उनके अनुभव-प्रवचन में आत्मसाक्षात्कार कराने की भी क्षमता है; पर जिनका परम निधान आत्मा ही मिथ्यात्व भूमि में गड़ा हुआ है उनके प्रवचन में वैसी क्षमता नहीं होती इसीलिये वे खुद भी बेचारे अपने बाप-दादों की बही के आधार पर ही उस परम निधान को क्रिया और साहित्य-वन में बाहर ढूंढ रहे हैं। जहाँ दुकानदारों की भी ऐसी दशा है वहाँ भला! उनकी दुकान में से हमें मुंहमाँगा दाम देने पर भी आत्मसाक्षात्कार का गुरुगम कैसे मिल सकेगा?

भैया! हमें गुरु तो नहीं बनना है, पर तुम्हारी योग्यता को देखकर ज्ञानियों की कृपा से जो कुछ जाना, उसमें से थोड़ा सा इशारा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर दिया। तुम्हें यदि यह ठीक जचे तो इस गुरुगम के अनुसार अपनी साधना का मेल बैठा लेना, अन्यथा कहीं अन्यत्र गुरुगम-योग की खोज करना, पर आत्म कल्याण में जरा-सा भी प्रमाद मत करना, क्योंकि आयुष्य का कोई ठिकाना नहीं है।

५. सन्त आनन्दघनजी के इस बोधामृत का परम आदर और उल्लास पूर्वक पान करते करते स्वरूप जिज्ञासु की चेतना अन्तर्मुख उतरते-उतरते जब बाह्यज्ञान शून्य अन्तरंग में स्थिर हो गई, तब बाबा भी चुप होकर स्वरूपस्थ हो गये। उस दशा में जिज्ञासु के हृदय के उपर का परदा हटा और उसका चैतन्य-खजाना खुल गया। खजाने के खुलते ही उसने अपने हृदय-प्रदेश में चतन्य प्रकाश द्वारा वीतराग धर्म-मूर्त्ति जिनेन्द्रदेव के रूप में ही सन्त-छवि को साक्षात् देखा। फलतः अन्तरंग की निस्तरंग दशा में उसे एकाएक स्फुरणा हुई कि—

हे परम कृपालु! आप तो साक्षात् राग, द्वेष और मोह आदि बन्धनों से परिमुक्त परम वीतराग-मूर्त्ति हैं; जबकि मैं प्रकट राग, द्वेष, और मोह आदि के फन्द में फँसा हुआ रागी-प्राणी हूँ अतः आपके साथ की हुई मेरी प्रीति का निर्वाह कैसे होगा? क्योंकि एक पक्षीय प्रीति निभ नहीं सकती, वह तो उभय पक्षीय एक सी प्रकृति वालों के मिलन-काल में ही निभ सकती है—ऐसा जगत के प्राणी मात्र में देखा गया है।

चाहे जो हो पर हे हृदय-रमण! आज से आपको छोड़ और किसी के भी लिये इस हृदय में स्थान नहीं है। चाहे आप! इस दास को अपना लें या ठुकरा दें, पर यह दास तो आपका ही हो चुका। आपकी कृपा से ही मैंने यह परम निधान पाया। आपने ही मेरा अनादि कालीन दारिद्रय दूर कर दिया। अहो! आपने मुझ जैसे अंधे को आँख बख्शाई। अहो आपकी निष्कारण करुणा! अहो आपका सत्समागम! अहो आपकी वीतराग छवि! अहो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आपका योग-बल ! अहो आपका ज्ञान ! अहो आपका संयम ! अहो आपका तप ! धन्य भाग्य मेरे ! कि मुझे आप जैसे साक्षात् ज्ञान-मूर्ति का सुयोग मिला, पर दयालु ! आप मुझे अब विछोह मत दीजियेगा।

तब आकाशवाणी हुई कि—हे अन्तरात्मा ! विश्व में सबसे बड़ा बन्धन यही प्रीति बन्धन है। इसी के आधार पर ही यह भव-चक्र चल रहा है, जहाँ आत्मा को क्षण-भर भी आराम नहीं है, अतः प्रीति बंधन जोड़ने योग्य नहीं, तोड़ने योग्य है। जिस प्रकार दूध, दही को खटाई से तो जमता हैं पर काँजी की खटाई से फट जाता है, उसी प्रकार प्रीति भी, रागी के साथ करने पर जमती है और वीतरागी का साथ करने पर फट जाती है। प्रीति के जमने पर भव-भ्रमण बढ़ता है और फटने पर भव-भ्रमण मिटता है, अतः यदि तुझे भव-भ्रमण से छूटना हो तो प्रीति को जमाने की चिन्ता मत कर, किन्तु फाड़ने के पुरुषार्थ में लगा रह, अर्थात् तेरे प्रेम प्रवाह को अखण्ड धारा से वीतराग चरणों के प्रति सतत बहाये जा—इसे सुनकर जिज्ञासु निर्विकल्प हो गया।

६. स्वरूप जिज्ञासु को अतरंग में लहराती हुई आनन्द की गंगा में गोते लगाते पुनः स्फुरण हुआ कि:—

अहो ! यदि अन्तर्दृष्टि से घट में देखा जाय तो यह परम-निधान मुख के ही सामने प्रकट है, बाहर नहीं ; पर आश्चर्य है कि इसे उल्लांघ कर विश्व के प्राणी इसे बाहर ही यत्र-तत्र ढूंढ़ रहे हैं। भोगियों की कथा तो दूर रही ; त्यागी-तपस्वी, साधु, योगीजनों का भी यही हाल है और इसीलिए वे व्याख्यान-बाजी से भोले लोगों को भरमाते हैं कि 'इस काल में आत्मा का प्रत्यक्ष-दर्शन नहीं हो सकता पर चरमचक्षु से आत्म दर्शन हो भी कैसे ? विश्व को प्रत्यक्ष बतलाने वाली जगदीश की ज्योति को प्रकटाये बिना ही केवल चर्म चक्षु से आत्मा को देखना तो सूरदासों के देखने तुल्य निरर्थक हैं, पर करें

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या ? इस दुषम काल से दुर्भाग्य से केवल सूरदासों से ही सूरदासों की कतारें ढकेली जा रही हैं, क्योंकि मार्गदर्शक भी अन्तर्दृष्टि के न खुलने के कारण अन्धे हैं और उनका अनुयायी वर्ग भी अन्धा—यह कैसी विचित्रता !

धन्य है मुझे कि सद्गुरु कृपा से इस दुषम काल में भी यह चैतन्य खजाना मेरे हाथ लग गया, जिसकी कि मुझे संभावना ही नहीं थी। यदि सद्गुरु नहीं मिलते तो मैं भी उस अन्ध कतार में ही मारा-मारा फिरता रहता। धन्य है उन जिनेश्वरों को ! कि जिन्होंने अथक परिश्रम के द्वारा धर्म-धन से भरे इस चैतन्य खजाने को खोजने का मार्ग प्रगट किया और मुमुक्षुओं को बताया। धन्य है उन आत्मज्ञ सत्पुरुषों को कि जिन्होंने जिनेश्वरों के इस स्वानुभूति प्रधान वीतराग मार्ग का अनुसरण करके स्व-पर कल्याण किया और कर रहे हैं। धन्य है मेरे इन आनन्दघन भगवान को ! कि जिन्होंने अपना चरण-शरण प्रदान करके मुझे अगम खज़ाना बख्शा कर उपकृत किया। अहो सत्पुरुषों की अनन्त करुणा !

७. धन्य है उस धरती को ! कि जिस धरती ने ऐसे ज्ञानियों की पदधूलि से अपने को पावन कर लिया, एवं उनके च्यवन, जन्म, दीक्षा ज्ञान और निर्वाण आदि के द्वारा वह तीर्थभूमि बन गई। धरती के वे ग्राम-नगर वन-पर्वत त्रिकाल वन्दनीय हैं। धन्य है उन पवित्र दिवसों को ! कि जिन दिनों ज्ञानियों का धरती पर अवतरण आदि हुआ, दिन ही क्या ? वे घड़ी-पल आदि काल भी धन्य-धन्य है !

धन्य है उन रत्नकुक्षी-जनेताओं को ! कि जिन्होंने ऐसे पुरुषरत्नों को जन्म देकर विश्व-सेवा में अर्पित किया, और आप भी विश्वपूज्या बनीं। मातायें ही क्या ? वे मातृ-वंश भी धन्य हैं ! जिन वंशों में ऐसे अनमोल रत्नों को उत्पन्न करने वाली रत्नकुक्षियाँ जनमीं। धन्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है उन जनकों को। कि जिन्हें ऐसे ज्ञानियों के पूज्य पिता बनने का सौभाग्य संप्राप्त हुआ, पिता ही क्या ? वे पितृ-कुल भी धन्य हैं कि जिन कुलों ने विश्व के लिये धर्म-पिता की पूर्ति की और कर रहे हैं, अतः उन सबको त्रिकाल नमस्कार है।

८. अंत में स्वरूप-जिज्ञासु, अपने हृदयस्थ भगवान के साकार-स्वरूप के प्रति अत्यन्त विनयान्वित हो कर प्रार्थना करता है कि :—

भगवान आनन्दघन ! आपकी आनन्दघन के नाम से जो विश्व-व्यापक प्रसिद्धी है वह सार्थक है, क्योंकि आपके केवल-चरण-कमलों के मकरन्द-पान मात्र से भी मेरा यह मन-भ्रमर, अत्यन्त तृप्त, आनंदित और पवित्र बन गया, फलतः ऐसा ही स्थायी आनंद चाहता हुआ यह प्रार्थना करता है कि हे कृपालो ! बस, अब तो आपके पावन चरण-कमलों के निकट ही मेरा स्थायी निवास हो। भगवन् ! दास की यह छोटी सी प्रार्थना ध्यान में लेकर कृपया आप अपनी सेवा में मुझे स्थायी रहने की आज्ञा प्रदान कीजिये, अन्यथा इस दास का जीना असम्भव हो जायगा।

स्वरूपनिष्ठ सन्त आनंदघनजी ने अपनी ज्ञान दृष्टि से जिज्ञासु के उक्त सारे स्फुरण को अपने चैतन्य प्रकाश में प्रत्यक्ष देखा और इस सारी घटना के सार को पद्य के रुप में पत्रारूढ कर लिया।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री शान्ति जिन स्तवन

(राग—मल्हार-चतुर चौमासो पडकमी—ए देशी)

शान्ति जिन एक मुझ विनती, सुणो त्रिभुवन राय रे।
शान्ति सरूप किम जाणिये, कहो मन किम परखाय रे ।। शांति० ।।१।।

धन्य तू, आतम जेहने, एहवो, प्रश्न अवकास रे।
धीरज मन धरि सांभलो, कहूँ शान्ति प्रतिभास रे ।। शांति० ।।२।।

भाव अविशुद्ध सविशुद्ध जे, कह्या जिनवर देव रे।
ते तिम अवितत्थ सद्दहे, प्रथम ए शान्ति-पद सेव रे ।। शांति० ।।३।।

आगमधर गुरु समकिती, क्रिया सम्वर सार रे।
सम्प्रदायी अवंचक सदा, सुचि अनुभवाधार रे ।। शांति० ।।४।।

शुद्ध आलम्बन आदरे, तजि अवर जंजाल रे।
तामसी वृत्ति सवि परिहरि, भजे सात्विकी साल रे ।। शांति० ।।५।।

फल विसंवाद जेहमां नहीं, शब्द ते अर्थ सम्बन्धि रे।
सकल नयवाद व्यापी रह्यो, ते शिव साधन संधि रे ।। शांति० ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विधि प्रतिषेध करि आतमा, पदारथ अविरोध रे।
ग्रहण विधि महाजने परिग्रह्यो, इस्यो आगमे बोध रे ।। शांति० ।।७।।

दुष्ट जन संगति परिहरी, भजे सुगुरु संतान रे।
जोग सामर्थ चित भावजे, धरै मुगति निदान रे ।। शांति० ।।८।।

मान अपमान चित सम गिणे, सम गिणे कनक पाखाण रे।
वंदक निन्दक सम गिणे, इस्यो होय तू जाण रे ।। शांति० ।।९।।

सर्व जग जन्तु नै सम गिणे, गिणे त्रिण मणि भाव रे।
मुगति संसार बेहु सम धरै, मुणे भव-जलनिधि नाव रे ।। शांति० ।।१०।।

आपणो आतम भावजे, एक चेतना धार रे।
अवर सवि साथ संजोगथी, ए निज परिकर सार रे ।। शांति० ।।११।।

प्रभु मुख थी इम सांभली, कहै आतमराम रे।
थाहरै दरिसणे निस्तर्यो, मुझ सीधा सवि काम रे ।। शांति० ।।१२।।

अहो ! अहो ! हूँ मुझनै कहूँ, नमो मुझ नमो मुझ रे।
अमित फल दान दातारनी, जेहने भेंट थई तुझ रे ।। शांति० ।।१३।।

शान्ति सरूप संखेपथी, कह्यो निज पर रूप रे।
आगम मांहि विस्तर घणो, कह्यो शान्ति जिन भूप रे ।। शांति० ।।१४।।

शान्ति सरूप इम भावसे, धरि शुद्ध प्रणिधान रे।
'आनन्दघन' पद पामसे, ते लहसे बहुमान रे ।। शांति० ।।१५।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१६. श्री शान्ति-जिन-स्तवनम्

शान्ति का स्वरूप :

१-२ एकदा एक मुमुक्षु आत्मशान्ति की खोज में तीर्थयात्रा करता हुआ सन्त आनन्दघनजी के सत्संग में आया और उनकी प्रशान्त-मुद्रा के दर्शन से प्रसन्न हुआ। विधिवत् वंदन करके उनसे पूछा कि:—

भगवन्! आत्म-शान्ति का स्वरूप क्या है? और उसकी अनुभूति किस तरह हो सकती है? एवं स्वभाव तथा परभाव का रहस्य क्या है?—ये प्रश्न मुझे बेर-बेर उठते हैं, पर उनका ठीक समाधान मैं अब तक कहीं से भी नहीं पा सका। कृपया आप मुझे इन प्रश्नों का सरल भाषा में समाधान कराईये।

सन्त आनन्दघन—जिसके हृदय में ऐसे पारमार्थिक प्रश्नों को उठने का अवकाश मिलता है, वह निकट भव्य का लक्षण है अतः तू धन्य है! क्योंकि संसारीप्राणी प्रायः शरीर, संसार और भोगों के सम्बन्ध में ही दिन-रात चिन्तन किया करते हैं, यावत् उन्हीं के हृदय में अपने आत्म-कल्याण विषयक ऐसे प्रश्नों को उठने का मौका ही नहीं मिलता। मेरे हृदय में तो बचपन से ही ऐसे प्रश्न उठा करते थे, और समाधान के लिये मैं दिन-रात छटपटाता था। दूसरे किसी भी कार्य में मुझे रूचि न होने के कारण ग्राम्यवासी लोग मुझे इस उपनाम 'यति' से ही पुकारा करते थे।

इस शरीर की जन्मभूमि में शान्तिनाथ-भगवान का भी जिनालय था। वहाँ मैं नित्य नियमित रूप से दर्शन-पूजन करने जाता था, और रोज भगवान से प्रार्थना करता था कि हे भगवान! शान्ति का स्वरूप क्या है? और वह मैं कैसे जान सकूँ? शान्ति का कारण स्वभाव-निष्ठा और अशान्ति का कारण परभाव-निष्ठा जो बताई

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जाती है उन स्वभाव-परभाव को भी मैं कैसे पहचान सकूँ ? मन में धैर्य धारण करके मैंने कई रोज तक इन्हीं प्रश्नों की रट लगा रखी। मुझ विश्वास था कि भगवान मेरा समाधान अवश्य करेंगे। एक दिन पूजन के पश्चात् मन्दिरजी में मैं खासी देर तक बैठा रहा। सभी लोगों के चले जाने पर प्रेम-विह्वल दशा में गद्गद् होकर मैं प्रभु को उपालम्भ देने लगा कि "हे नाथ ! एक गाम-मात्र का ठाकुर भी अपनी शक्ति के अनुसार दुखियों के दुख दूर करने की उदारता दिखलाता है, जबकि आप तो तीनों ही भुवनों के ठाकुर—त्रिभुवन-स्वामी हैं,

तो फिर हे जिनेश्वर ! आप के दरबार में मुझ जसे पामर की एक छोटी सी अरजी की भी सुनाई क्यों नहीं होती ? और आप का नाम भी शान्तिनाथ जग-मशहूर है, तो फिर मेरी अशान्ति क्यों नहीं मिटाते ? मैं रोते-रोते जब बेहोश हो गया तब मेरे घट में प्रकाश हुआ और यकायक हृदय प्रदेश में भगवान की साकार मूर्ति प्रकट हो गई। प्रभु ने स्मित-वदन से जो कुछ कहा उसे मैंने एकाग्रता के साथ सुना। मेरे प्रश्नों का समाधान मिल जाने पर मैं होश में आकर नाच उठा। घर जाकर पारिवारिक-मण्डली को समझा-बुझा मैंने क्षमा आदि दश विध यति-धर्म की दीक्षा लेली और सचमुच यति बन गया। गुरुदेव ने भी मेरे अन्तरानन्द की छाया को देख कर मेरा नाम भी लाभानन्द जाहिर किया।

भगवान शान्तिनाथ की साकारमूर्त्ति के द्वारा मुझे जो प्रत्युत्तर मिला था, वही तुझे मैं सुना दूँ, जिससे तेरे प्रश्नों का भी स्वतः समाधान हो जाय।

३. प्रभु के मुखारविन्द से मुझे सुनने में आया कि—बेटे ! जबतक तू मुझ से छेटे निकल गया था तब तक ही तुझे अशान्ति का सामना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करना पड़ा। अब जब कि तू मेरी गोद म आ गया, तब भला ! बता कि यहाँ अशान्ति कहाँ है? क्योंकि मैं आत्मा हूँ और आत्मा ही शान्ति का घर है एवं यह निज-स्वरूप है। अतः शान्ति प्राप्त करने के लिए निज-स्वरूप का और अशान्ति से बचने के लिये पर-स्वरूप का परिज्ञान कर लेना नितान्त आवश्यक है। जैसे कि विश्व में ये शरीर आदि पदार्थ है वैसे ही आत्मा भी एक पदार्थ है। आत्मा, पुद्गल-परमाणु, कालाणु, आकाश, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय— इन छः द्रव्यों के समुदाय को विश्व कहते हैं। ये सभी पदार्थ भावात्मक अर्थात् अपने अस्तित्व को कायम रखने वाले होने से सत्ता-स्वरूप है, क्षीर-नीर वत् परस्पर मिले हुये होने पर भी स्वतंत्र हैं। ये किसी से बने हुये न होने से अनादि एवं विनाशशील न होने के कारण अनन्त हैं। इनमें आत्मा, स्व-पर को देखने जानने के स्वभाव वाला चेतन-स्वरूप होने से चेतन कहलाता है तथा शेष पाँचों ही वैसी योग्यता वाले न होने के कारण जड़ कहलाते हैं। संख्या में प्रथम के तीन अनेक एवं शेष तीनों ही एक एक हैं।

चेतन-सृष्टि में बहुत से चेतन तो शरीर गाड़ी से चालक वत् सम्बन्ध से मुक्त हैं; सम्बन्ध रखने वाले बद्ध हैं, एवं थोड़े-से शरीर जबकि अचेतन-सृष्टि में भी बद्ध पुद्गल-पिण्ड-रूप शरीर-गाड़ियाँ एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक की व्यवस्था वाली छोटी-बड़ी अनन्तानन्त हैं और शरीराकार से मुक्त पुद्गल स्कन्ध एवं परमाणु भी अनन्तानन्त हैं। आकाश सभी को जगह देता है और खुद स्व-प्रतिष्ठा है। विश्व मर्यादा स्थित आकाश-चित्रण लोकाकाश और शेष विभाग अलोकाकाश कहलाता है। गति के माध्यम-रूप धर्मास्तिकाय के निमित्त से गतिशीलों की गति होती है और स्थिति के माध्यम-रूप अधर्मास्तिकाय के निमित्त से स्थितिशीलों की स्थिति होती है। केवल चेतन और पुद्गल गति पूर्वक स्थिति तथा स्थिति पूर्वक गति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर सकते हैं। गाड़ी के पहिये की धुरीवत् काल-द्रव्य के निमित्त से सभी द्रव्यों का अवस्थान्तर होता है। इसी तरह किसी भी दूसरे की प्रेरणा के बिना ही विश्वतन्त्र का स्वतः प्रवर्तन हो रहा है। और विश्व अनादि अनन्त है।

स्व भवनम् अर्थात् अपनी द्रव्य मर्यादा में अपने गुण और पर्यायों के कार्यान्वित बने रहने का स्वभाव ; एवं उनके, स्व-द्रव्य-मर्यादा को लाँघ कर विमुख कार्यान्वित बने रहने को विभाव किंवा परभाव कहते हैं। चेतन का चेतन-स्वभाव और जड़ का जड़ स्वभाव है। चेतन में जड़ स्वभाव नहीं है और जड़ में चेतन स्वभाव नहीं है। चेतन और पुद्गलों की अनन्त शक्तियों में से एक विभाविनी-शक्ति भी है अतः उससे उनका विभाव-परिणमन अर्थात् स्व-द्रव्य-मर्यादा के विमुख चारों ओर स्वगुण-पर्यायों का झुकाव और प्रवर्तन भी हो सकता है ; जबकि शेष चारों में वह शक्ति न होने से वैसा प्रवर्त्तन भी नहीं हो सकता। स्वभाव-परिणमन से शान्ति की ओर विभाव-परिणमन से अशान्ति की अनुभूति होती है और ये उभय प्रकार की अनुभूतियाँ केवल चेतन को ही हो सकती है ; पर ज्ञान-शून्य जड़ों को कदापि नही हो सकती।

परिणमन में सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं अतः चेतन भी स्वतंत्र है। चेतन के परिणमन में चेतना का प्रवर्त्तन ही मुख्य है और वह श्रद्धा प्रयोग चैतन्य प्रकाश को फैलाकर उसे धारण-पोषण किये रहने के प्रयोग को श्रद्धा कहते हैं। स्वरूपानुसन्धान के बिना ही श्रद्धा के केवल बहिर्मुखी मिथ्या-प्रयोग के द्वारा विभाव-परिणमन हो करके चेतन, देह आदि में मोहित रहता है। उस दशा में चैतन्य प्रदेश में प्रतिक्षण राग-द्वेष मूलक शुभाशुभ भाव तरंग उठा करती है और उनसे चेतन निरन्तर क्षुभित बना रहता है। चेतन की यह क्षुभित दशा ही अशान्ति का स्वरूप है। फलतः चैतन्य-प्रदेश में पुण्य-पापात्मक जड़-कर्म-शृंखला का आश्रव-आगमन होकर चेतन स्वतः उनसे आबद्ध हो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देह जेल में कैदीवत् फंस कर चौरासी का चक्कर काटता रहता है। यह पर-भाव निष्ठा है और इसका कारण मिथ्या-श्रद्धा-प्रयोग है अतः वह हेय है। जबकि स्वरूपानुसन्धान मूलक श्रद्धा के अन्तर्मुखी सम्यक् प्रयोग से स्वभाव-परिणमन होता है तब चेतन का दैहिक आदि में मोह नहीं होता। उस दशा में उसे शुभाशुभभाव तरंग नहीं उठते अतः चैतन्य-प्रदेश में क्षोभ रहित केवल वीतरागता ही बनी रहती है—चेतन की यह अक्षुब्ध दशा, यही आत्म शान्ति का स्वरूप है। फलतः चैतन्य-प्रदेश में पुण्य-पापात्मक नवीन कर्म-शृंखला का आगमन रुक कर संवर होता है और पुरानी कर्म-शृंखला चूर-चूर हो बिखर जाने रूप निर्जरा होती रहती है, यावत् सम्पूर्ण कर्म-निर्जरा हो जाने पर आत्मा देह-जेल-यात्रा से सर्वथा मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है, अतएव सम्यक् श्रद्धा-प्रयोग उपादेय है। क्योंकि इसीसे आत्म शान्ति-प्रापक स्वभाव निष्ठा सधती है।

सभी जिनेन्द्रदेवों ने अनन्त भाव-भेदों के विस्तार से जो यह पदार्थ-विज्ञान बताया है वह अनुभव का विरोधी न होने से अविरुद्ध एवं हेय के परित्याग पूर्वक उपादेय के अभ्यास से चित्त-शुद्धि का कारण होने से अत्यन्त विशुद्ध है, अतः इसे जिस रूप में कहा उसी रूप में सही समझ कर श्रद्धा के सम्यक्-प्रयोग को साधकीय जीवन में अपना लेना—यही श्री शान्तिनाथ भगवान के चरण-सेवा की किंवा मोह-क्षोभ रहित परम-शान्ति-पद प्राप्त कराने वाली उपासना की प्रथम भूमिका है।

४. उपरोक्त भूमिका में प्रवेश करने के लिये सर्व-प्रथम निर्मोही परम शान्तरस की प्रत्यक्ष सजीवनमूर्त्ति श्री सद्गुरु का अनन्य आश्रय, साधक को नितान्त आवश्यक है। क्योंकि वे भव-रोग-भिषग्वर भव-रोगी को नब्ज देख कर आत्म-अशान्ति का निदान करके रोगी की प्रकृति अनुसार उचित औषध, उसकी सेवन-विधि, पथ्य-पालन आदि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बताते हैं। यदि रोगी को मल-दोष के कारण कब्जी हो तो विरेचन द्वारा मल शुद्धि करा कर शक्ति-वर्धक औषध देते हैं। सद्गुरु वैद्य की शरण गये बिना ही यदि कोई रोगी अपनी अशान्ति और अशान्ति के कारणों को केवल पुस्तकों के आधार पर किंवा कुवैद्यों के द्वारा मिटाना चाहे तो वह असफल ही रहेगा, फिर भी यदि वह दुःसाहस करेगा तो उल्टे उसका रोग असाध्य बन जायगा। इसलिये मान मोड़ कर सद्गुरु के शरण में जाने में ही उसकी भलाई है।

आश्रितों की आत्मा-अशान्ति मिटाने में निम्न लक्षणों वाले सद्-गुरु का शरण ही कार्यकारी है अतः तदनुसार परीक्षा करके ही उनका शरण स्वीकार करना चाहिए। जो गुरु द्रव्य-भाव निर्ग्रन्थ, स्व-पर-समयविद्, समर्थ-श्रुत-ज्ञानी और आत्मद्रष्टा हों अर्थात् गुरु आम्नाय द्वारा समस्त द्वादशांगी के साररूप श्रद्धा का सम्यक् प्रयोग हाथ लग जाने से जिनकी अन्तर्दृष्टि इतनी स्वच्छ हो चुकी हो कि जिस दृष्टि में आत्मा और शरीर आदि समस्त दृश्य-प्रपंच प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न सतत् दिखाई देता हो, फलतः जो शुभाशुभ-कल्पना-जाल को मिटाने वाली सभी क्रियाओं के सार-स्वरूप संवर क्रिया में सिद्धहस्त हों, इस अप्रमत्त-कला से जो प्रधानतः अपनी पवित्र आत्मानुभूति-धारा को धारण किये हुये योग-प्रवृत्ति से निवृत्त एवं गौणतः आत्म-लक्ष-धारा में योग-प्रवृत्ति से प्रवर्तित रहते हों—ऐसे सद्गुरु की आम्नाय भी बाड़ेबन्धो और प्रतिसेवा की चाह से मुक्त अवञ्चक होती है, अतएव ऐसे गुरु की शरण से, उनकी बताई हुई विधि-निषेधात्मक साधन-क्रिया से और उससे आने वाले क्रिया फल से साधक को आत्म-वञ्चना कदापि नहीं हो सकती।

गुरु यदि अभव्य वत् यावत् नव पूर्व तक के पोथी-पण्डित तो हों, पर सम्यक् द्रष्टा न हो तो उनसे त्रिविध आत्म-वञ्चना अवश्यंभावी है; एवं गुरु यदि सम्यग्द्रष्टा हों पर समर्थ-श्रुत-ज्ञानी न हों तो उनसे

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मवञ्चना यद्यपि नहीं होती, किन्तु उन गूगे का गुड़ खाना आसान नहीं है अतः गुरु में सम्यग्दृष्टि बल और समर्थ-श्रुतज्ञान-बल दोनों का होना नितान्त आवश्यक है।

५. आत्म-घातक रागी देव-देवियाँ की साधना, मंत्र-तंत्र-यंत्र, जादू-टोना, झाड़-फूँक, दोरा-धागा, स्थंभन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, एवं गच्छ-कदाग्रह, धार्मिक-कलह, विषय-कषाय, श्राप-प्रभृति, तामसी-वृतियाँ हैं; और मठ-मन्दिर, गुफा-उपाश्रय, गद्दी-जागीर आदि का आधिपत्य तथा छत्र-चामरादि विभूति, शृंगार, तेल-तम्बोल, पौष्टिक-आहार, लोक-परिचय आदि राजसी-वृत्तियाँ हैं—ऐसी दुष्ट-वृत्तियों के प्रवाह में जो बह रहा हो वह तो मुमुक्षु कहलाने का भी अधिकारी नहीं है अतः कुगुरु है; सुगुरु तो ऐसी राक्षसी-वृत्तियों को कालकूट तुल्य समझ कर उन्हें जड़ मूल से ही उखाड़ फेंकते हैं; और वे उत्तम—क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्लोभता, तप-संयम, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, अकिंचनता आदि सात्विक-वृत्तियों को अपना कर आत्मार्थ के सिवाय दूसरी लब्धि-सिद्धि आदि तक के सारे जंजाल से सर्वथा मुँह मोड़ कर केवल सिद्ध समान अपनी शुद्ध ज्ञापन सत्ता में चित्त-वृति-प्रवाह को स्थिर करके शुद्ध स्वावलम्बन में ही सदा आदरशील बने रहते हैं।

६. सुगुरु-रूप में वे ही स्वीकार्य हैं कि जिनकी वाणी के एक-एक शब्द में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ़, एवंभूत किंवा निश्चय-व्यवहार आदि सारे नयों-उपनयों का वचनाशय अविरोध-रूप से व्याप्त हो। केवल उसी के द्वारा किसी भी दृष्टिकोण का एकान्तिक अपलाप न होने से फलितार्थ में आत्मार्थ का विरोध न हो उसी तरह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध व्यक्त होता है, फलतः वह अनुभव मूलक वाणी ही निश्चय-व्यवहार की सन्धि पूर्वक सम्यक्-विचार और सम्यक्-आचार की एकता में प्रेरक बन कर सिद्धपद

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के साधन-रूप सम्यक्-दर्शन-आराधना, सम्यक्-ज्ञान-आराधना, सम्यक्-चारित्र-आराधना एवं सम्यक्-तप-आराधना—इन चारों ही आराधना में श्रोताओं को जोड़ने में समर्थ है।

जिनकी वाणी उत्सूत्र-प्ररूपणा, मनभेद, मतभेद, संघभेद और आत्मक्लेश उत्पन्न करने वाली हो वह तो श्रवण के भी योग्य नहीं है अतः मुमुक्षुओं को वैसी वाणी से सदा सावधान रहना चाहिये।

सप्तनय का स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय आदि के आश्रय से होने वाले उपचार को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को 'नैगम-नय' कहते हैं।

(२) अनेक तत्त्व और अनेक व्यक्तियों को किसी एक सामान्य-तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित कर लेने वाले दृष्टिकोण को 'संग्रह-नय' कहते हैं।

(३) सामान्य-तत्त्व के आधार पर एक-रूप में संकलित वस्तुओं का प्रयोजन के अनुसार पृथक्करण करने वाले दृष्टिकोण को 'व्यवहार-नय' कहते हैं।

(४) द्रव्य की वर्तमान-अवस्था मात्र को ग्रहण करने वाले दृष्टिकोण को 'ऋजुसूत्र-नय' कहते हैं।

(५) शाब्दिक प्रयोगों में आनेवाले दोषों का परिहार करके तदनुसार अर्थभेद को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को 'शब्द-नय' कहते हैं।

(६) शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को 'समभिरूढ़-नय' कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(७) शब्द के फलितार्थ को घटित होने पर ही उस वस्तु को उसी रूप में स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को 'एवंभूत-नय' कहते हैं।

ये सातों नय, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-इन दोनों नयों में समाविष्ट हो जाते हैं। वस्तुमात्र सामान्य-विशेष उभयात्मक है। सामान्य के दो भेद हैं—एक तिर्यक्सामान्य—अनेक पदार्थों में रही हुई समानता, जैसे कि सभी प्रकार की गायों में गोत्व ; और दूसरा उर्द्धतासामान्य—क्रमशः आगे-पीछे होने वाली विविध पर्यायों में रहने वाला अन्वय, जैसे कि पिण्ड, स्थान, कोश आदि विविध अवस्थाओं में रहने वाली मिट्टी। विशेष के भी दो भेद हैं, एक पर्याय-विशेष—जैसे कि आत्मा में होने वाली हर्ष-विषाद आदि अवस्थायें ; और दूसरा व्यतिरेक-विशेष—जैसे कि गाय और भैंस दोनों पदार्थों में असमानता है। इनमें से सामान्य अंश के द्वारा वस्तु को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को द्रव्यार्थिकनय और विशेष अंश के द्वारा वस्तु को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

ये नय-परिज्ञान, वस्तु-व्यवस्था समझने के लिए है ; परन्तु वस्तु-व्यवस्था में उलझने के लिए नहीं है। जो गुरु नय-परिज्ञान द्वारा वस्तु-व्यवस्था की उलझन से मुक्त होकर स्वरूपस्थ रह सकते हैं, उन्हें ही वस्तु-व्यवस्था का व्याख्यान करने का अधिकार है और उस वाणी से ही स्व-पर कल्याण हो सकता है।

७. साधनाकाल की साधक-क्रियाओं में विधिमुख द्वारा प्रयोजन-रूप स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव युक्त अपने आत्म-तत्त्व का एवं तदनुकूल सहजदर्शन, सहज-ज्ञान, सहजसुख और सहजवीर्य-रूप स्वभाव का अविरोध-रूप से ग्रहण तथा निषेधमुख द्वारा स्व-सत्ता-भिन्न समस्त जड़-चेतनात्मक परतत्त्व, परभाव एवं पर के निमित्त से उत्पन्न होने वाले राग आदि सभी विभाव-भाव—इन सबका सर्वथा परित्याग करना साधक के लिये नितान्त आवश्यक है—ऐसी सुदृढ़ शिक्षा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिनागमों में स्पष्ट-रूप से बतायी गई है। तदनुसार जिन महापुरूषों ने केवल त्याग विधि को ही अपनाया हो—ऐसा नहीं, प्रत्युत त्याग-विधि के साथ ग्रहण-विधि को भी अच्छी तरह अपना कर स्वात्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो, वे ही सद्गुरु के रूप में स्वीकार्य हैं।

त्याग विधि और ग्रहणविधि का परस्पर अन्योन्य-आश्रय है, अतः त्याग के बिना ग्रहण नहीं होता और ग्रहण के बिना त्याग नहीं होता। फिर भी जिन्हें ग्रहणविधि के प्रति जरा-सा भी ध्यान नहीं है और केवल नाम-मात्र की त्यागविधि अपना कर अपने आपको त्यागी-गुरु मानते-मनवाते हैं, वे सचमुच गुरुपद के योग्य नहीं है, क्योंकि उनकी इष्टानिष्ट कल्पना मन्द नहीं हुई। जब तक इष्टानिष्ट कल्पना है तबतक शुद्धोपयोग नहीं है और शुद्धोपयोग के बिना स्वतत्त्व का साक्षात्कार तक नहीं होता; सर्वविरति मूलक गुरुपद की तो बात दूर है। उस दशा में साधक स्वभाव का त्यागी है, विभाव का नहीं। जिन्हें शुद्धोपयोग का लेशतः भी परिचय नहीं है अतएव जो केवल पर-परिचय की धामधूम में दिन रात लगे रहते हैं, उन्हें यदि गुरु मान लिया जाय, तब ऐसा स्वभाव-त्यागी तो सारा संसार ही है, फिर गुरु-शिष्य के व्यवहार का भी क्या प्रयोजन है ?

ग्रहणविधि से आत्म साक्षात्कार हुये बिना ही अपनायी हुई त्यागविधि ने क्रियाजड़त्व को जन्म दिया और त्यागविधि को ठुकरा-कर कोरी ग्रहण विधि की बातों ने शुष्कज्ञानियों की सृष्टि रची। साधना क्षेत्र में क्रियाजड़ और शुष्कज्ञानी दोनों ही असाध्य-रोगी हैं। उनके शरण में जाने पर शरणागत का रोग भी असाध्य हो कर उसे भी अशान्त कर देता है, अतः आत्मशान्ति के गवेषकों को चाहिये कि वे सदैव उन लोगों से सावधान रहें।

८. साधु-जीवन में जैसे विषयी-कषायी-लोगों का संग सर्वथा त्याज्य है ; वैसे ही क्रियाजड़ और शुष्कज्ञानियों का संग भी सर्वथा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

त्याज्य है, क्योंकि वे लोग आत्मानुभव से शून्य होने से मत-ममत्व, मान-बड़ाई आदि दोषों में आबद्ध-दोषी हैं, अतः जो गुरु, उन दोषी-जनों के संग-प्रसंग को छोड़ कर केवल सद्गुरु के शरणागत मुमुक्षु शिष्य मण्डल के साथ ही संग-प्रसंग रखते हों ; एवं मुक्ति के साक्षात् कारण-रूप शुद्ध चैतन्य भावात्मक सामर्थ्य-योग को धारण करके प्रातीभ-ज्ञान प्रकाश द्वारा असंगानुष्ठान में दत्त-चित्त होकर सतत मोक्ष मार्ग में प्रगति कर रहे हों—वे समर्थ योगी ही सद्गुरु के रूप में स्वीकार्य हैं, दूसरे नहीं ; क्योंकि केवल इच्छा योगी और शास्त्रयोगी आत्म-शान्ति-प्रदायक आत्मानुभूति के मार्ग में खुद ही प्रवेशित न होने से उसमें वे दूसरों को प्रवेशित कराने में भी असमर्थ हैं।

सूर्योदय के पूर्व अरुणोदय के प्रकाश तुल्य निरावरण चैतन्य-प्रकाश को 'प्रातिभ-ज्ञान' कहते हैं, कि जिसके द्वारा दृष्टि-पथ में आने वाले विश्व के स्व-पर पदार्थ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। फलतः शास्त्रों की मदद के बिना ही साधक केवल स्वानुभूति के बल से ही मोक्ष मार्ग में गमन करने में समर्थ होता है, अतः वह 'समर्थयोगी' कहलाता है एवं उसकी साधना-प्रवृत्ति 'सामर्थ्य-योग' कहलाती है।

९-१०. वास्तव में मोह से छुट्टी लेकर यदि ज्ञायक-सत्ता को देखा जाय तो उसमें जन्म-मरण आदि संसार है ही नहीं और जहाँ संसार ही न हो वहाँ बन्ध-मोक्ष के कल्पना-प्रवाह में क्यों बहना ? चाहे त्रिविध-कर्म-जाल अपना नाटक कैसा भी दिखाता रहे, पर उसे देखने-जानने मात्र से ज्ञाता-दृष्टा को क्या लाभ-हानि ? फिर भी जो अपनी ज्ञायक-सत्ता से विचलित हो कर जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष, लाभ हानि, हर्ष-शोक, सुख-दुख आदि द्वन्द्व भावों में उलझकर क्षुभित रहते हैं, वे स्वानुभूति के मार्ग से दूर हैं।

विश्व में प्राणी मात्र के ये जो नाना प्रकार के शरीर हैं, वे तो केवल पुद्गल-स्कन्धों के ही आकार-प्रकार हैं और उन सभी में जो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा है, वह अकृत्रिम सिद्ध समान एक-सा और स्वतन्त्र है ; कृत्रिम न्यूनाधिक और परतन्त्र नहीं—ऐसा ज्ञानियों का अनुभव है, अतः देहधारियों में परस्पर पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, शत्रु-मित्र, अच्छे-बुरे, ऊँच-नीच, अपने-पराये आदि किये गये द्वन्द्वारोप को सही कसे माना जाय ? फिर भी जोलोग ऐसे आरोपित्तधर्म में मगन हैं, वे निरे अज्ञानी हैं।

इसी तरह सुवर्ण और पाषाण, घास-फूस और हीरा-मणि-माणेक आदि सभी केवल मिट्टी के ही विकार मात्र हैं, फिर भी उनमें महत्व-तुच्छत्व का आरोप करके हेय-उपादेय-वृत्ति रखना-यह भी केवल अज्ञान का ही विलास है।

विश्व-व्यवहार में दूसरों के साथ वर्त्ताव के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी ही योग्यता का प्रदर्शन करता है—सज्जन, सन्मान का अभिनय दिखाकर अपनी सज्जनता का और दुर्जन, अपमान का अभिनय दिखाकर अपनी दुर्जनता का। फिर भी दूसरों के द्वारा दिखाये गये सम्मान को अपना गुण समझकर फूले नहीं समाना एवं अपमान को अपना अवगुण समझकर क्षुभित होना—यह भी निरी बालिशता है।

लोग निन्दा; स्तुति भी अपनी-अपनी रुचि-अरुचि की ही किया करते हैं, दूसरों की नहीं तब भला ! हमारे लिये वंदक और निन्दक में क्या अन्तर है ? फिर भी जो वन्दक की स्तुति से खुश और निन्दक की निन्दा से नाखुश होते हैं—वे अज्ञानी हैं।

वास्तव में जो ज्ञानी हैं वे तो निन्दक और वन्दक को समान गिनते हैं। मान और अपमान को भी एक-सा समझ कर समचित्त रहते हैं। उनकी दृष्टि में तो क्या कनक और क्या पाषाण, क्या तृण और क्या मणि—सभी एक-से मिट्टी ही हैं। ज्ञानियों को क्या अपना और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या पराया ? उन्हें सभी के शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष दिखते हैं अतः विश्व के प्राणी मात्र के प्रति एक-सी आत्मदृष्टि और समरसता है। उनके विषय में अधिक क्या कहूँ ? वे तो अपनी ज्ञायक सत्ता में इतने तल्लीन रहते हैं कि हम देहधारी हैं या देहातीत ? यह भी अपनी स्मृति में लाना उन्हें कठिन हो जाता है अतः उनके लिए मुक्ति और संसार एक-से हैं, फलतः दोनों के प्रति उनकी समबुद्धि है।

ये सब उपरोक्त लक्षण जिनके जीवन में एवंभूतनय से विद्यमान हों—वास्तव में वे ही सत्पुरुष हैं और वे ही इस संसार सागर से पार उतरने के हेतु मुमुक्षुओं के लिए सफरी जहाज हैं। तू समझ ले कि सद्गुरु ऐसे ही होते हैं। जीवन में इन लक्षणों के घटित होने के पूर्व शिष्य-पद है, गुरुपद नहीं ; और वह गुरुपद से भी दुर्लभ है। यदि कोई यथार्थ रूप में शिष्य-पद पर आरूढ़ हो जाय तो उसका शिष्यत्व अवशेष नहीं रह सकता, क्योंकि सद्गुरु उसके शिष्यत्व को मिटाकर तुरन्त अपने तुल्य बना देते हैं और ऐसे सद्गुरु ही इस स्वानुभूति के मार्ग में कार्यकारी हैं।

मेरा आशीर्वाद है कि तू भी ऐसा ही ज्ञानी हो ! दशविध यति धर्म को अंगीकार करके तू सच्चा यति बन और पूर्व जन्म की साधना-पद्धति के बल से स्वानुभूति के मार्ग में अग्रसर हो।

११. स्वानुभूति के मार्ग में अग्रसर होने के लिए तू अपने उपयोग के ऊपर निरन्तर आत्म-भावना के पुट लगाते रहना, क्योंकि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग-रूप अपनी चेतना का आधार एक मात्र अपनी आत्मा ही है। परमार्थतः चेतन और चेतना का परस्पर आधार-आधेय-सम्बन्ध है। चेतन आधार है और चेतना आधेय है। आधेय चेतना को अपने उद्गम-स्थल चेतन का आधार मिलने पर ही वह स्वरूपस्थ और स्थिर रह सकती है। उसके पिन और रेकार्ड की तरह चेतन से अनुभव तन्त्रियों की वीणा बजने लगती है फलतः आत्म प्रदेश में भी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सवत्र आनन्द की गंगा लहराने लगती है, अतः उसे स्वरूपस्थ रखना साधकीय-जीवन में नितान्त आवश्यक है। आत्म-भावना ही चेतना-प्रवाह को स्वरूपाभिमुख लगाये रखने की कुंजी है और जैसी भावना वैसी ही सिद्धि होती है। जिस प्रकार अभ्रक-भस्म के ऊपर दूसरी औषधि-रस की हजार भावनायें यदि दी जायँ तो उसकी ताकत चरम सीमा पर पहुँच जाती है, उसी प्रकार चेतना के दर्शन-ज्ञानोपयोग के ऊपर जितने भी आत्म-भावना के पुट लगाये जायँ उतनी ही आत्म-शक्ति प्रकट होती है। यावत् आत्म-भावना के बल पर ही परम-शान्ति का धाम सम्पूर्ण कैवल्य-पद की अनुभूति हो कर आत्मा परमात्मा बन जाता है अतः आत्मभावना को स्थायी बनाना—यही साधकीय जीवन का परिपूर्ण सार है। वर्तमान जिनागमों में मुनिचर्या के प्रसंग में कई जगह 'अप्पाणं भावेमाणे विहरई'—इस लब्धि वाक्य का उल्लेख जो तुझे सुनने में आया है, उसका यही रहस्यार्थ है।

आत्मा के साथ जो इन शरीर आदि का सहवास है, वह तो केवल संयोग-सम्बन्ध मात्र है अतः टिकने वाला नहीं है, क्योंकि सभी संयोग, वियोग-रुप में ही बदलते हुए देखने में आते हैं, और उनका आविर्भाव भी अपनी चेतना को उसके आधारस्वरूप, आत्मा पर आधारित न करके उसे केवल दृश्य-प्रपञ्च की ओर परीसार अर्थात् यत्र-तत्र भट काने से ही हुआ है—जो कि चेतन की अपनी निजी मूल-भूल है, शेष अशेष परिभ्रमण तो उसी का ब्याज मात्र है। अतः तू ; अपने आत्मा के अतिरिक्त संयोग-सम्बन्ध वाले उन शरीर आदि सभी अन्य भावों से उदासीन होकर केवल अपने 'सहजात्म-स्वरूप' की स्मरण धारा में ही निरन्तर निमग्न रहो, इसी से ही तुझे आत्म-साक्षात्कार होगा, यावत् तू 'परमगुरु' के आनन्दघन-पद पर आरूढ़ हो जायगा।

१२. इस प्रकार मेरे हृदयस्थ भगवान के श्री मुख से अपूर्व शिक्षा-बोध और अपूर्व आशीर्वचन सुनकर मेरी आत्मा में सर्वांग अपूर्व प्रकाश

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फैल गया जिसे देखकर मैं आनन्द की गंगा में बह कर अपूर्व चैतन्य-सागर में पहुँच कर तद्रूप हो गया। इस अपूर्वकरण के फल-स्वरूप मेरी चेतना, शरीर आदि समस्त पर-द्रव्य और पर-भावों से वैसी निवृत्त हो गई जैसी कि नारियल के अन्दर रहते हुए भी खोपड़ी से असंग सूखे गोले की हुआ करती है। वह निवृत्ति यावत् अन्तमुंहूर्त्त तक अपार रही। इस अनिवृत्ति-करण में मुझे अपने स्वरूप की झाँकी भी हो गई। आत्मानन्द से छकी सी उस अद्भूत-दशा में मेरे आत्माराम ने भगवान से गद्गद् हो कर कहा 'हे दीनबन्धु ! तेरे प्रत्यक्ष दर्शन को पाकर यह पतित अब पावन हो गया। अहो आपकी कृपा से भंभधार में डूबती हुई मेरी नैया सहज ही में पार लग गई। ओहो अब तो मेरा निस्तार हो ही चुका क्योंकि मैंने तेरी कृपा से सिद्ध समान ही अपने को पाया। अब मेरे सभी दुख द्वन्द्व मिट गये और सभी मनोवांच्छित सिद्ध हो गये। मुझे अपना शान्ति-स्वरूप-परम निधान हाथ लग गया अतः मैं कृत-कृत्य हो गया।

१३. कुछ क्षणों के पश्चात् जबकि मैंने देखा कि भगवान साकार-स्वरूप मेरी आत्मा से अभिन्न हो गया ; और केवल मेरा आत्माराम ही अवशेष रह गया। तब मुझे सुदृढ़ प्रतीति हुई कि आत्मा और परमात्मा एक ही अभिन्न पदार्थ है क्योंकि तू मिटकर केवल मैं ही अवशेष रह गया। फिर मैं अपने आपको कहने लगा कि अहो मैं ! अब 'तू' के रूप में किसको नमस्कार करूँ ? क्योंकि तू ही मैं है। अतः मेरा मुझे ही नमस्कार हो। नमोस्तु-नमोस्तु !!!

अहो मेरा आत्माराम तू धन्य-धन्य है। क्योंकि तुझे अपने ही घट में उन बेहद के गुरु-परम गुरु से साक्षात् भेंट हो गई कि जिन परम गुरु ने दातार होकर सेवा के फलस्वरूप अपना असीम सहजात्म स्वरूप को ही दान में देकर तुझे अपने तुल्य बना दिया। अनादिय सफर में तेरे लिए यह भेंट नई है क्योंकि इसी से तेरे जीवन का नव-निर्माण

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हुआ। इन अमित फल-दान दातार ने केवल तुझे ही नहीं प्रत्युत जो भी कृपा-पात्र मिले उन सभी को अपने तुल्य बनाया है और बनाते रहते हैं। बाहर में तों केवल हद के ही गुरु मिलते है अतः साधक केवल उन्हीं के सहारे बेहद में प्रवेश नहीं कर पाता। ॐ

बाद अब मेरी भाव-समाधि खुल गई तब मैंने जो कुछ किया वह तुझे प्रथमतः सुना दिया है।

१४. प्यारे! यह मेरी अनुपम कथा है। ऐसी अनुभव की बातें शायद तेरे-पढ़ने-सुनने में न आयी हो अतः इस कथन पर तुझे विस्मय और अनेक विकल्प भी उत्पन्न हो सकते हैं। तुझे यदि इन बातों की परीक्षा करनी हो तो जिस तरह मैंने प्रयोग किया उसी तरह तू भी सच्चाई से प्रयोग करके देख ले, जिससे तुझे भी प्रतीति हो जाय कि यह कथन सच है या झूठ? झूठ बोलकर न तो भव भ्रमण बढ़ाना है और न तेरे से कुछ लेना देना है। केवल निष्कारण करुणा-वश ही मैंने तुझे यह अनुभव गाथा सुनाई है; जिसमें कि तेरे प्रश्नों के समाधान के रूप में आत्मशान्ति का स्वरूप, उसे प्राप्त करने के उपाय और स्वभाव - परभाव का स्वरुप भी संक्षेपतः आ गया। त्रिजगपति जिनेन्द्र श्री शान्तिनाथ भगवान ने जिन शब्दों में यह जो कुछ कहा था उन्हीं शब्दों को मैंने दोहराया है। उपरोक्त विषय को तुझे यदि विशेषतः समझने की इच्छा हो तो जिनागमों में गोते लगाकर देख लेना क्योंकि जिनवाणी में इन विषयों पर अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों पूर्वक अत्यधिक विस्तार से बहुत-कुछ उल्लिखित है। पर याद रखना! कि शास्त्रों में अनुभव मार्ग के प्रति केवल इशारा ही किया गया है अतः गुरुगम से उसके मर्म को समझे बिना अनुभव-पथ में गति नहीं होती और अनुभव-शून्य गुरुओं की केवल कल्पना रम्य बातों से भी उस पथ में प्रवेश तक नहीं हो पाता। फलतः वैसी बातों और शास्त्रों में गोता लगाते हुए चाहे जिन्दगी बिता दो, पर मन का धोखा नहीं मिट सकता। इस

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

धोखे की टट्टी से बचने का उपाय तो केवल सद्गुरु की कृपा एवं उनका अनुभव इशारा ही कार्यकारी है। इस कथन का वह मतलब नहीं है कि शास्त्रज्ञान संप्राप्त करना व्यर्थ है ; किन्तु यह मतलब है कि शास्त्र तो ज्ञानियों के कथन की साख पूरते हैं अतः ज्ञानियों की वाणी समझने में वे उपकारी होते हैं पर उनका अध्ययन गुरुगम पूर्वक होने पर ही वे कार्यकारी हैं अन्यथा जीव शास्त्रीय अभिनिवेश में ही उलझ कर साधना के भी योग्य नहीं रहता।

१५. इस तरह जो कोई आत्मशान्ति का गवेषक उपरोक्त शान्ति-स्वरूप के रहस्य को परमादर उल्लास और एकाग्रता के साथ सुनकर शुभ-प्रणिधान पूर्वक अर्थात् अपने मन को विषय कषायों से विमुक्त रख कर मन्त्र स्मरण, आत्म-चिन्तन, आत्मभावना आदि के द्वारा प्रशस्त करके वचन को प्रभु-कीर्तन, स्वाध्याय, शास्त्र-प्रवचन आदि के द्वारा प्रशस्त करके एवं काया को प्रभु-सेवा, तप-त्याग, इन्द्रिय-संयम आदि के द्वारा प्रशस्त करके परा-भक्ति के सदनुष्ठान में एक-निष्ठ होकर हृदय की सतत धुलाई करता हुआ अपनी आत्मा को शान्त-रस से प्रभावित करेगा वह मुमुक्षु क्रमशः परमात्म-दर्शन आत्म-साक्षात्कार, आत्म,-प्रतीति-आत्म-रमणता को प्राप्त करके सत्पुरुष बनेगा। और फिर बहुत से साधु-पुरुषों का मार्ग दर्शक बन कर वीतराग-सन्मार्ग की प्रभावना द्वारा सन्मान पाता हुआ क्षपकक्षेणि में आरोहण करके घाती कर्मों के घात पूर्वक-कैवल्य-लक्ष्मी से सुसज्ज होकर अनेक भव्य-जीवों का तारक बनेगा। अन्त में अघाती कर्मों से भी सर्वथा विमुक्त होकर सम्पूर्ण शुद्ध, स्थायी और सघन ज्ञानानन्द प्रधान साम्राज्य का अधिनायक हो अपने सिद्ध-पद पर स्थिर हो जायेगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री कुन्थु जिन स्तवन

(राग-रामकली-अंबर देहु मुरारी हमारो—ए देशी)

कुन्थु जिन-मनडूं किम ही बाजै हो।
जिम जिम जतन करी नै राखूं, तिम तिम अलगू भाजै हो ।। कुन्थु० ।।१।।

रजनी वासर वसती ऊजड, गयण पायालें जाय।
साँप खायनै मुखडूं थोथूं, ए उखाणो न्याय हो ।। कुन्थु० ।।२।।

मुगति तणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान अभ्यासै।
बैरीडो कांइ एहवो चिन्ते, नाखै अवलें पासे हो ।। कुन्थु० ।।३।।

आगम आगमधर नै हाथै, नावे किण विध आंकू।
किहाँ कणे जो हट करिहटकूं, तो व्याल तणी पर वाँकू हो ।। कुन्थु० ।।४।।

जो ठग कहूँ तो ठगतो न देखूं, साहूकार पिण नांही।
सर्व मांहिनै सहुथी अलगूं, ए अचरिज मन मांही हो ।। कुन्थु० ।।५।।

जे जे कहुं ते कान न धारै, आप मतै रहै कालो।
सुर नर पंडितजन समझावै, समझै न म्हारो सालो हो ।। कुन्थु० ।।६।।

मैं जाण्यो ए लिंग नपुंसक, सकल मरद णै ठेलै।
बीजी बाते समरथ छै नर, एहने कोई न झेलै हो ।। कुन्थु० ।।७।।

मन साध्यूं तिण सघलूं साध्यूं, एह बात नहीं खोटी।
इम कहै साध्यूं ते नवि मांनूं, एक ही बात छै मोटी हो ।। कुन्थु० ।।८।।

मनडो दुराराध्य तें वसि आण्युं, ते आगम थी मति आंणूं।
'आनन्दघन' प्रभु म्हारो आणो, तो सांचूं करि जाणूं हो ।। कुन्थु० ।।९।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१७. श्री कुन्थु-जिन स्तवनम्

मन की दुराराध्यता :

सन्त आनन्दघनजी के उपरोक्त अनुभूति मूलक बोधामृत का पान करके वह मुमुक्षु आश्चर्यचकित और स्तब्ध हो गया। कुछ क्षणों के पश्चात् वह दीनता पूर्वक बोला कि 'भगवन्' आपने अपनी अनुभव गाथा सुनाकर मुझे जो उत्साहित किया तथा अनुभूत प्रयोगों को आजमाने के लिए आदेश दिया—इसे मैं आपका कृपा-प्रसाद समझता हूँ। अब मुझे विश्वास हो गया कि मेरे शिर छत्र समर्थ-गुरु मुझे मिल गए। मेरे लिए तो आप ही साक्षात् 'जिन' है क्योंकि आपने दर्शन-मोह को जीत कर अपने अनन्त ऐश्वर्य-युक्त परम निधान का साक्षात्कार कर लिया है। पर प्रभो आपके अनुभूत प्रयोग की मैं किस तरह अजमाईश करूँ ? क्योंकि अजमाईश का होना तभी सम्भव है जबकि मन स्व-वश हो, परन्तु मेरा मन तो स्व-वश नहीं है अतः वह किसी भी साधन में नहीं लगता। मेरे इस कुंथ जितने कुथित मन ने मुझे परेशान कर दिया है नाथ ! अधिक क्या कहूँ मैं तो मन के आगे विवश हूँ। सन्त आनन्दघनजी—अरे बावरे ! तू हताश क्यों होता है चाहे तेरा मन कितना ही कुथित हो पर है वह कुन्थ जितना न ? तब देखता क्या है चढ़ा दे उसे कुन्थु-जिन चरणों में। क्योंकि सच्चाई के साथ प्रभु चरणों में मन की बलि चढ़ाने पर वहाँ वह किसी भी तरह लग जायेगा—स्थिर हो जायगा।

१. मुमुक्षु—भगवन् ! श्री कुन्थु जिनेश्वर के चरणों में मेरा यह पाजी-मन निश्चित रूप में कैसे लगे क्योंकि वैसा प्रयत्न करते-करते मैं तो हार गया। ज्यों-ज्यों इसे प्रभुचरणों में रखने की कोशिश करता हूँ त्यों-त्यों यह मरकट वहाँ से दूर ही दूर भागता फिरता है, परन्तु क्षण भर भी प्रभु-चरणों में नहीं टिकता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मुमुक्षु के मन की हालत को देखकर मानो उसे साक्षात् शिक्षा देने के लिए ही सन्त आनन्दघनजी का मन तत्काल स्वरूपस्थ-स्थिर हो गया ; जिसे समीपस्थ एक चिरपरिचित सत्संगी ने समझ लिया और बाबाजी के गैबी संकेत अनुसार विनोद के लिए उसने मुमुक्षु के साथ चर्चा शुरु कर दी।

समीपस्थ सत्संगी—(व्यंग्य में) भाईजी जब कि आपका मन प्रभु चरणों में लगाने पर भी नहीं लगता तब इसका मतलब यह हुआ कि इसे अपने घर में रहना ही पसन्द होगा और इसी लिए अन्यत्र लगाने पर यह दौड़ धूप करता होगा।

२. मुमुक्षु—अजी ! यदि इसे घर में रहना अच्छा लगता हो और इसीलिए दौड़ धूप करता हो तब तो हम क्यों रोते फिरते। पर इसकी दौड़ धूप विचित्र प्रकार की हैं। अपनी दौड़ धूप के पीछे यह नहीं देखता है रात और नहीं देखता है दिन। जागृतिकाल में इसका विलास क्षेत्र है बाह्यसृष्टि और निद्राकाल में है—स्वप्नसृष्टि। एक क्षण में तो यह बड़े-बड़े नगर, ग्राम, कर्वट, मण्डप, खेड़ प्रभृति बस्तियों की सैर करता है तो दूसरे क्षण में वन, उपवन, पर्वत, मैदान, नदी, समुद्र प्रभृति उजाड़ की। और क्या फिर तीसरे क्षण में आसमान के स्वर्गों की सुगन्ध झांकता है जब कि चौथे क्षण में पाताल में जाकर नरक की दुर्गन्ध में आलोटता है। पर कहीं एक क्षण भी चुप नहीं बैठता।

सत्संगी—इसे इधर उधर से कुछ पल्ले पड़ता होगा, तब न यह भटकता है ? क्योंकि विश्व में प्रयोजन के बिना किसी की भी प्रवृत्ति देखने में नहीं आती।

मुमुक्षु—आप कैसी बातें बनाते हैं ? इसके पल्ले पड़ने जैसा बाहर है ही क्या ?

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे जब कि सर्प डसनें के अवसर में लोग चिल्ला उठते हैं कि अरे सांप ने खा लिया तब न्याय दृष्टि से यदि देखा जाय तो क्या साँप के पल्ले कुछ पड़ता है ? क्योंकि काटने पर भी साँप का मुंह तो जैसा का तैसा खालीखम ही बना रहता है—ठीक यही दृष्टान्त मन की दौड़ धूप पर चरितार्थ होता है।

सत्संगी—जिसका मन प्रभु भक्ति में नहीं लगता हो उसको चाहिए कि अपने मन को ज्ञेय-ध्यान से हटाकर उसे ज्ञान-ध्यान के अभ्यास में लगाये रखने का निरन्तर पुरुषार्थ किया करे।

३. मुमुक्षु—बन्धो ! सुना जाता है कि जिन्हें सर्वार्थसिद्ध-विमान तक के भौतिक सुख की तनिक भी लालसा नहीं थी और केवल भव-बन्धन से मुक्त होने की अभिलाषा वश घोर तपस्या करते हुए सन्त प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ज्ञान-ध्यान के अभ्यास द्वारा ही केवल कायोत्सर्ग स्थित दत्तचित्त थे। पर जब पास से जाते हुए महाराजा श्रेणिक के सेनानी के मुख से उन्हे अपने परित्यक्त पुत्र और राष्ट्र के सम्बन्ध में अनहोनी बातें सुनने में आयी तब तत्काल राजर्षि के मन ने ऐसा ऊधम मचाया कि उन्हें सातवीं नरक में धकेलने की सामग्री इसने एकत्रित कर दी। इसी तरह न जाने कितने ज्ञानी-ध्यानी त्यागी तपस्वी मुमुक्षुओं को इसने पथभ्रष्ट कर दिया होगा। सन्मार्ग में दाव लगाते ही ऐसे महात्माओं को भी यह बैरी कोई ऐसी चिन्ता जाल में उलझा देता है कि उनके पासे ही पलट जायें। जबकि महात्माओं का मन ज्ञान-ध्यान में एकनिष्ठ नहीं रह सकता तब मुझ जैसे घर गृह-स्थियों के मन का क्या कहना।

सत्संगी—राजर्षि के मन ने तो फिर तत्काल उन्हें केवलज्ञान भी प्राप्त करा दिया। अतः दूसरों की बात छोड़ो और आप आपकी सम्भालो ! यदि ज्ञान ध्यान में मन न लगता हो तो उसे शास्त्र-स्वाध्याय में लगाना उचित है। शास्त्रों में भी उन्हीं शास्त्रों का विशेषतः

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय करना चाहिए कि जिनसे आगमों की विशेषतः गम अर्थात् जानकारी मिल सकती हो। विशेष जानकारी में भी वह गुरुगम साधकीय जीवन में इष्ट है कि जिस गुरुगम से अहंता की आग और ममता की बेड़ी से मुक्त होकर 'आये' और 'गये' श्वासोच्छ्वास की 'मन' निगरानी करता रहे। क्योंकि स्वरूप विलास भवन के द्वारपाल से यदि सुदृढ़ परिचय हो जाय, तो उसकी मेहरबानी उतरने पर इससे महाराजा की मुलाकात भी सुलभ हो जाय ?

४. मुमुक्षु—अजी ! चौरासी 'आ' वा 'ग' मन में ही जो 'मन' राजी हो, उस मन को आगम का समस्त गम भी क्या कर सकती है और आये-गये पवन-पिता की गोद में भी वह पवन-पुत्र कैसे ठहर सकता है ! मुझे अनुभव है कि स्वाध्याय के लिये आगम साहित्य हाथ में उठा कर मनोनिग्रह के ही विषय पर जहाँ मनन करना शुरु किया कि तुरन्त चलते हुये विषय को ठुकरा कर यह दुर्दम मन भाग खड़ा हो जाता है—ऐसे चपल को स्वाध्याय द्वारा भी किस तरह अंकुश में लाया जाय ? और जब कभी इधर-उधर भागते हुये इसे यदि हठ पूर्वक किसी तरह हटकाता हूँ अर्थात् बलपूर्वक रोकता हूँ तब तो इस वक्र की गति छेड़े हुये साँप की सी और भी कुटिल हो जाती है तब तो मेरे हृदय प्रदेश में यह इतना उत्पात मचाता है कि जिसकी कोई हद ही नहीं। और यदि इसे हठ के बिना ही जब प्रेम से समझाता हूँ तब इतनी वक्रता नहीं करता। इस प्रकार उल्टी चाल वाले घोड़े-की-सी इसकी दशा है। उक्त घोड़े को तो लगाम भी लग सकती है पर इसे लगाम भी नहीं लग सकती।

सत्संगी—बन्धो ! चौरासी के आवागमन में मन राजी है या हम ? मन की नाच-कूद क्या सचमुच उत्पात-रूप है या यह हमारी समझ का अपराध है। मन घोड़े को उल्टी चाल किसने सिखायी ? और इसे लगाम लगाई जा सकती है या नहीं ? इन सब प्रश्नों का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान तो बाबाजी देगें। मुझे लगता है कि यह सब आपकी मानसिक ठगाई है।

५. मुमुक्षु—मन यदि ठगाई करके कहीं से कुछ लाकर मुझे देता हो, किंवा मुझे धोखा देकर मेरा कुछ दूसरों को दे देता हो तब तो मैं इसे ठग कह सकूँ, पर इसकी ऐसी कोई ठगाई मेरी नजर में नहीं आती, अतः इसे ठग कैसे कहा जाय? मेरे साथ ठगाई तो इन्द्रियाँ करती हैं, क्योंकि शब्द आदि पञ्च विषयों में सुख-बुद्धि करा कर वे मुझे सदैव विषय-वन की ओर आकर्षित किया करती है।

सत्संगी—आपका मन जबकि ठग प्रतीत नहीं होता तब तो साहूकार ही सिद्ध हुआ; क्यों सही है न?

मुमुक्षु—अजी! यह कहाँ का साहूकार? क्योंकि इसी की प्रेरणा पाकर ही इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं। जब तक मन की प्रेरणा नहीं मिलती तब तक इन्द्रियाँ जड़-मशीनवत् कार्यक्षम नहीं हो सकतीं। मन और इन्द्रियों में परस्पर प्रवर्त्तक-प्रावर्त्तक सम्बन्ध प्रतीत होता है अतः मेरे साथ धोखेबाजी में इन्द्रियों को इसी का हाथ है—इस दृष्टि से साहूकार भी नहीं कहा जा सकता।

सत्संगी—जबकि आपका मन न तो ठग है और न साहूकार, तब इसे आप कैसा समझते हैं।

मुमुक्षु—इसके लक्षण तो नारद के से अजीब देखने में आते हैं। क्योंकि यद्यपि अनिंद्रिय विषयों में तो अकेला; किन्तु पञ्च-विषय-वन में सभी इन्द्रियों से मिलकर ही यह सैर-सपाटा उडाता है। जबकि भोग के अवसर में वह प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने विषय-भोग में लगाकर और आप सभी से अलग रहकर यह नारद-योगी केवल तमाशा ही देखता रहता है। अतः इसकी माया कोई अनिर्वचनीय है। बस मन के सम्बन्ध में मुझे यही आश्चर्य लगता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्संगी—शास्त्रों में कहा गया है कि आत्मा के लिये भव-बन्धन और भव-मोक्ष का कारण केवल एक मन ही है, और मन का प्रेरक आत्मा है। प्रेरक की गफलत में अशासित-मन प्रेरक को बन्ध-मार्ग में ही पटक कर स्वयं इधर-उधर भागता-फिरता है; किन्तु प्रेरक यदि सजग हो और वह समझा-बुझाकर इससे काम ले तो शासित-मन प्रेरक को मात्र अन्तर्मुहुर्त में ही भव-बन्धन से मुक्त करा देता है, अतः आत्मा, मन से जो भी काम कराना चाहे वह करा सकता है और वह अपने कर्त्तव्य क्षेत्र में स्वतंत्र है। मेरी विनम्र राय है कि आप और सभी दलीलें छोड़ कर स्वयं सजग रहिये एवं प्रेम-शासन से इसे स्व-वश रखकर मोक्ष मार्ग में लगाइये।

६. मुमुक्षु—अजी! क्या बताऊं? इसे शासित रखने के लिये मैं कितनी मेहनत करता हूँ—वह तो मेरा जी जानता है। मौका पाकर इसे जो-जो भी हित-वचन कहता हूँ—सब पत्थर पर पानी। इस ओर कान तक नहीं देता। जैसा कि दिमाग खराब हो जाने पर काल्हा अर्थात् पागल-आदमी किसी का कहना नहीं सुनता वैसे ही मेरा यह पागल मन मेरी एक भी नहीं सुनता और केवल अपने मते चलकर सतत कल्पना-प्रवाह के गन्दे कार्माण-कीच में सूकर की तरह आलोटता हुआ अपना शरीर सर्वांग काला किये रहता है।

मनोजय के सम्बन्ध में केवल मैं ही असमर्थ हूँ—ऐसी बात नहीं हैं, बड़े-बड़े अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न देवता लोग, शेर-गेंडे अष्टापद आदि दुर्दम पशुओं को भी जीते-जी कान पकड़कर कैदी बनाने वाले बलवान मनुष्य और मनुष्यों में भी मनोजय के विषय में ही व्याख्यान-बाजी करने वाले समर्थ पोथी-पण्डित भी खुद के मन को समझा-बुझाकर उसे स्व-वश रखने में असमर्थ सिद्ध हुये हैं। क्योंकि अपनी बहिन कुमति का भरमाया मेरा यह साला किसी के समझाने पर भी नहीं समझता। अतः इसके कारण सारी देह-धारी-दुनिया परेशान है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्संगी—अहो ! आश्चर्य है कि आप जवाँमर्द होकर भी एक नामर्द को जीतने में नामर्दी दिखा रहे हैं। अच्छा, जनाब ! यदि आप अपने साले को वास्तव में अपने आधीन बनाना चाहते हों, तो मैं एक युक्ति बतावूँ। अपने आपनी अर्द्धांगिनी के नाम की आदि में जो 'कु' जोड़ रखा है, उसे हटाकर 'सु' को स्थापित कर दीजिये और फिर देखिये कि आपकी श्रीमतीजी अपने भैया को किस तरह अपने पति की सेवा में लगाती है। क्योंकि मन को समझाने का काम सुमंति का है, कुमति का नहीं। अतः सर्व-प्रथम आप अपनी मति को कुमति से सुमति बनाइये और फिर देखिये कि मन वश होता है या नहीं। क्योंकि मन आखिर है तो नपुंसक न ?

७. मुमुक्षु—यद्यपि मैंने व्याकरण शास्त्रों से जाना कि मन नपुंसक लिंगी है पर पर नपुंसक होते हुए भी सभी पुरुषों को सन्मार्ग से उन्मार्ग की ओर ढ़केल देता है। दूसरों की बात छोड़ो, खास व्याकरण शास्त्र रचने वाले खुद पाणिनी ने मन को नपुंसक समझकर उसे अपनी प्रिया के शील-रक्षा के लिये उनके पास भेजा, पर उन जैसे विद्वान का मन भी बजाय शील-रक्षा के, स्त्री में ही रमने लग गया। उसे ऐसा व्यभिचारी देखकर खुद पाणिनी भी हताश हो गये। जबकि मन को नपुंसक ठहराने वाले पाणिनी भी मन को जीत न सके ? तब दूसरे सामान्य व्यक्तियों का क्या कहना ? अतः फलितार्थ में यही सिद्ध हुआ कि नामर्द होने पर भी मन स्त्रियों के साथ मिलकर ऐसा समर्थ हो जाता है कि बड़े-बड़े जवाँमर्दों को भी पछाड़ देता है।

यद्यपि मर्द लोग दूसरी बातों—जैसे कि कनकावलि-रत्नावलि, एकावलि सिंहनिःक्रीडित और आतापना आदि अघोर तप तपने में रेचक, पूरक, कुम्भक आदि कठोर योग साधन में, शेर सर्प आदि के दमन में तैर करके बड़े-बड़े जलाशयों को पार करने में, निराधार बाँस पर खेलने में, तलवार की धार पर नाचने में, भूत-पिशाच आदि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को वशवर्ती बनाने में, आश्चर्यजनक जड़-विज्ञान के आविष्कारों में, विमान के बिना ही आकाश में उड़ने में, और ऐसे बहुत से विकट कार्यों में समर्थ हैं किन्तु वे ही लोग अपने मन को दबाकर चैतन्य-प्रदेश में धँसाने में असमर्थ हैं। क्योंकि बड़े-बड़े पराक्रमी पशु-मानव और देव-दानवों में से ऐसा कोई समर्थ माई का लाल (माड़ीजाया) मन-विजेता आज तक मेरे देखने में नहीं आया था अतः मेरी मति नास्तिक-सी हो गयी थी, पर आज सौभाग्यवश इन मन विजेता साक्षात् जिन-चैतन्य मूर्ति सन्त भगवन्त का दर्शन पाकर मेरी मति की नास्तिक-गति आस्तिकता के रूप में बदल गई।

८. साधकीय जीवन में अपने मन कोस्वाधीन बनाना आसान नहीं है क्योंकि साधना-क्षेत्र की सार-रूप सबसे बड़ी और कड़ी साधना ही मनोजय की साधना है। शेष तप, जप और विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का खप—इत्यादि सभी तो केवल इसी साधना की पूर्ति के लिये उप-साधन-मात्र हैं। इसीलिये विश्व के सभी आस्तिक दर्शनों ने एक स्वर में पुकारा कि "जिसने अपने मन को साधा अर्थात् स्व-वश बना लिया उसने संसार में सब कुछ सिद्ध कर लिया"—यह कहावत भ्रान्त नहीं ; सही है। यदि मनोजय सुलभ होता तो सिद्धपद पाना भी सुलभ हो जाता।

मुझे मनोविज्ञान के समझने की बड़ी लगन है अतः मनोजय के बारे में जिस किसी व्यक्ति का नाम सुनता हूँ कि 'सा' ब ! फलाँ सन्त पक्के मनोजयी हैं—तुरन्त उनकी जाँच करने चला जाता हूँ और गहराई से छानबीन करने पर उन्हें मनचले ही पाता हूँ। क्योंकि मुझे बहुत से मुख-मौनियों को मिलने का सुअवसर मिला, पर निकट के परिचय से सुनिश्चित-रूप में जान गया कि मन-मौन के सम्बन्ध में उन्होंने भी अपनी हार मानली है, अपने शरीर की कई दिनों तक एक आसन पर चुप बैठाने वाले भी बहुत-से आसनसिद्ध साधक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मिले, पर अपने मन को चुप बैठाने में वे भी कायर पाये गये। इसी तरह त्यागी, तपस्वी और ज्ञाननिष्ठ भी बहुत से सुने गये पर परीक्षण से प्रतीति हुई कि संकल्प विकल्प, इच्छायें और ज्ञेय-निष्ठा में वहाँ भी कोई फर्क नहीं था। फलतः कोई यदि कह देता कि 'अमुक व्यक्ति ने अपने मन को साध लिया है, तो उक्त बात को मैं नहीं मानता था, क्योंकि मन-साधना वाली इस कहावत को चरितार्थ करके दिखाना—बहुत बड़ी बात अर्थात् कड़ी समस्या है। इन महापुरुष जैसे कोई विरले ही मनोजयी हो सकते हैं। अहो! क्या है यह इनकी अद्भूत-दशा। बाबा की यह स्वाभाविक आत्मदशा हमारे हृदय-पट पर मनोजय की छाप लगा देती है।

फिर उल्लास में आकर उस मुमुक्षु ने बाबा आनन्दघन के नाम का बुलंद आवाज से जयघोष किया। वह जयघोष बाबा के ब्रह्मरन्द्र में जब टकराया तब उनकी समाधि खुली। उस दशा में बाबा के चहरे पर अनुभव-लाली टपक रही थी, जिसे देखकर अनुमान लगाया जा सकता था कि बाबा आनन्द की गंगा में गोते लगाकर ही बाहर आये हैं।

९. मुमुक्षु—भगवन्! अपने दुस्साध्य मन को आपने साध कर स्ववश बना लिया है—इस बात को आगम-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण से मेरी चपल बुद्धि भी स्वीकार करती है। क्योंकि शास्त्रों के संकेत अनुसार आपकी दृष्टि, अधखुली और स्थिर है, आपका शरीर चापल्य रहित और ओजसपूर्ण है; आपकी वाणी आत्म-प्रदेश के स्पर्श पूर्वक नाभिमण्डल की तह से उठती हुई गम्भीर, दिव्य, मधुर और निदंभ है अतः श्रोताओं की अनुभव तन्त्रियों को झंकृत कर देती है। आपके विचार, वाणी और वर्त्तन में परस्पर अविरोध देखने में आता है, जो कि मुझ जैसे नास्तिक को भी आस्तिक बना देता है। आपके चहरे पर आत्मानन्द की लाली छायी हुई है

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अतः आप वास्तव में ही मनोजयी एवं आनन्दघन हैं। प्रभो! अब कृपा करके मेरे मन को भी कुन्थु-जिन-चरणों में तन्मय स्थिर कर दोजिये, क्योंकि आपकी महिमा अचिन्त्य है। आप अपने योगबल से सब कुछ करने में समर्थ हैं। नाथ! इस दास पर यदि आपकी कृपा-नजर उतर जाय और तदनुसार मेरा अस्थिर मन साध्य में स्थिर हो जाय, तो मैं अनुभव-प्रमाण से भी मनोजय की सत्य-प्रतीति करके कृतकृत्य हो जाऊँ। भगवन्! अब तो मुझे आपका ही सहारा है। अतः कृपा कीजिये।

परम कृपालु सन्त आनन्दघनजी ने अपने अन्तर्ज्ञान से मुमुक्षु और सत्संगी के पारस्परिक संवाद को जान लिया और मुमुक्षु की पात्रता-नुसार मन के सम्बन्ध में उसके प्रत्येक प्रश्न को हल किया। बाद अपनी योग-शक्ति से अपने चैतन्य-प्रकाश को ब्रह्मरंन्ध्र से फैलाकर मुमुक्षु के ब्रह्मरन्ध्र में संचारित किया, जिसके फलस्वरुप जैसे दीये दीया होता है, वैसे ही मुमुक्षु की चैतन्य-ज्योति जगमगाने लग गई, और उसमें मुमुक्षु का मन वैसा आकर्षित होकर स्थिर हो गया जैसे कि दीपक की लौ के प्रति पतंगा।

बाद सन्त आनन्दघनजी ने भव्य-जीवों के उपकार के हेतु उपरोक्त संवाद के सारांश को पद्य में गुम्फित करके पत्रारूढ़ कर लिया।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री अर जिन स्तवन

(राग-परजियो मारु, ऋषभ नो वंश रयणयरु, ए देशी)

धरम परम अरनाथनो, किम जाणूं भगवन्त रे।
स्व पर समय समझावियें, महिमावंत महन्त रे ।। धरम० ।।१।।

शुद्धातम अनुभव सदा, स्व समय एह विलास रे।
परबडि छाँहडि जे पडे, ते पर समय निवास रे ।। धरम० ।।२।।

तारा नखत ग्रह चंदनी, ज्योति दिनेश मझार रे।
दरसण ज्ञान चरण थकी, सकति निजातम धार रे ।। धरम० ।।३।।

भारी पीलो चीकणो, कनक अनेक तरंग रे।
परजाय दृष्टि न दीजिये, एकज कनक अभंग रे ।। धरम० ।।४।।

दरसण ज्ञान चरण थकी, अलख सरूप अनेक रे।
निरविकल्प रस पीजिये, सुद्ध निरंजन एक रे ।। धरम० ।।५।।

परमारथ पथ जे कहै, ते रंजे इक तन्त रे।
व्यवहारे लखि जे रहै, तेना भेद अनन्त रे ।। धरम० ।।६।।

व्यवहारे लख दोहिलो, कांइ न आवै हाथ रे।
शुद्ध नय थापन सेवतां, नवि रहै दुविधा साथ रे ।। धरम० ।।७।।

एक पखी लखि प्रीतनी, तुम साथे जगनाथ रे।
किरपा करीनै राखज्यो, चरण तलें गहि हाथ रे ।। धरम० ।।८।।

चक्री धरम तीरथ तणा, तीरथ फल तत सार रे।
तीरथ सेवे ते लहै, आनन्दघन' निरधार रे ।। धरम० ।।९।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१८. श्री अर-जिन स्तवनम्

एकदा दिगम्बर सम्प्रदाय के कितनेक मुमुक्षु, स्वानुभूति के हेतु प्रत्यक्ष-सत्पुरुष की खोज में निकल पड़े। उन्होंने अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये अनेक देशों में परिभ्रमण किया और साथ में तीर्थ यात्रा भी करते गये, पर वास्तविक सत्पुरुष का उन्हें कहीं भी साक्षात्कार नहीं हुआ। आखिर वे तीर्थाधिराज सिद्ध-क्षेत्र श्री शिखरजी की वन्दना के लिये गये। वहाँ उन्हें किसी मरुधर-देश निवासी एक मुमुक्षु के मुख से पता चला कि मरुधर-भूमि में साक्षात् कल्पवृक्ष तुल्य आनन्दघनजी नामक एक स्वरूप-निष्ठ सन्त अमुक निर्जन प्रदेश में विराजमान हैं। उनकी आत्मदशा के दर्शनमात्र से भी सुपात्र स्वरूप जिज्ञासुओं की वृत्तियाँ स्वरूपाभिमुख हो जाती हैं। अत्यन्त निष्पृह और पहुँचे हुये पुरुष हैं वे।

यद्यपि उनका जन्म श्वेताम्बर जैन परम्परा में ओसवाल जाति के एक धनाढ्य घराने में हुआ, तदनुसार वे दीक्षित भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुये, पर अनुभव-शून्य साम्प्रदायिकता उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकी। अतः जन्मान्तर की स्मृति के आधार पर साम्प्रदायिक-जाल से मुक्त हो वस्त्र-पात्र आदि का परित्याग करके उन्होंने जंगल का रास्ता ले लिया। उस प्रदेश में दिगम्बर-दशा से लोग घृणा करते हैं, अतः उनके भक्त लोगों को उनकी नंग-धड़ंग दशा अखरी, फलतः एक साहसिक भक्त ने जबकि बाबा खड्गासन में ध्यानस्थ थे, एक कोपीन उन्हें पहनादी। वे कभी एक वृक्ष के नीचे रहते हैं तो कभी दूसरे, कभी गिरी-कन्दरा में तो कभी श्मशान, शुन्यागार में उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

आहार-जल की आवश्यकता पड़ने पर वे आसपास की बस्तियों में चले जाते हैं और एषणीय शुद्ध आहार-विधि मिलने पर पाणिपात्र से ही ठाम चौविहार उदरपूर्त्ति करके चले जाते हैं। कभी-कभी दो-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दो तीन-तीन रोज एक ही आसन में समाधिष्ठ रहते हुये भी देखे गये ह। उपसर्ग परिषहों को सहने की उनमें अथाह क्षमता है।

यदि आपको एक बारगी उनके दर्शन मात्र हो जाँय तो आप उनके ही हो जाँय—ऐसा मुझे विश्वास है। वास्तव में इस काल के वे युग-प्रधान पुरुष हैं। उनके सम्बन्ध में आपको अधिक क्या कहूँ ?

उक्त बात को सुन कर और वक्ता के व्यक्तित्व को देख कर वे मुमुक्षु बन्धु प्रसन्न हुये और तीर्थयात्रा की समाप्ति करके वे उनके साथ क्रमशः मरुधर-भूमि में आकर सन्त आनन्दघनजी के सान्निध्य में उपस्थित हुये। बाबा की प्रशम मुद्रा और अनिमेष अन्तर्दृष्टि के दर्शन पाकर वे अतीव सुन्तुष्ट और प्रभावित हुए। बाद सविनय नमस्कार करके उनमें से एक विद्वान ने बाबा से धर्म चर्चा प्रारम्भ की।

अरनाथ स्तवन के शब्दार्थ—

स्व = अपना। पर = अन्य का। समय = सिद्धान्त। महिमावंत = यशस्वी। परवड़ी = अनात्म भाव वाली बड़ी। छांहड़ि = छाया। नखत = नक्षत्र। दिनेश = सूर्य। कनक = स्वर्ण। परजाय = पर्याय, अवस्था। अभंग = अखंड, भेद रहित। चरण = चारित्र। अलख = अलक्ष, अदृश्य। निरविकल्प = विकल्प रहित, भ्रान्ति रहित, शान्त भाव। निरंजन = निर्दोष, निर्मल। रंजें = प्रसन्न होवे। लखि = लक्ष, साधना बिन्दु। लख = लक्ष्य। दोहिलो = कठिन, दुर्लभ, दुष्कर। कांइ = कुछ भी। दुविधा = संशय। गहि = पकड़ कर। तले = नीचे। चक्री = चक्रवर्त्ती लहै = प्राप्त करे, पावे। निरधार = निश्चय ही।

नोट—गुरुदेव के द्वारा किया विवेचन यहीं तक का है। अतः आगे के स्तवन मूल मात्र दिये जा रहे हैं। अन्तिम दो पार्श्वनाथ व महावीर स्वामी के यशोविजयजी (?) देवचंदजी और ज्ञानसारजी द्वारा रचकर पूर्त्ति किए गए ६ स्तवन भी दिये जा रहे हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री मल्लि जिन स्तवन

(राग-काफी)

ढाल—सेवक किम अवगणियेंहो

एह अचंभो भारी हो, मल्लिजिन एह अचंभो भारी ।

ए अब शोभा सारी हो मल्लिजिन, ए अब शोभा खारी ।।
अवर जेहने आदर अति दिये, तेहने मूल निवारी हो ।। मल्लि० ।।१।।

ग्यान सरूप अनादि तुमारुं ते लीधो तुमे ताणी ।
जूओ अज्ञान दशा रीसाणी, जातां काण न आणी हो ।। मल्लि० ।।२।।

निद्रा सुपन जागरुजागरता, तुरीय अवस्था आवी ।
निद्रा सुपन दशा रीसाणी, जाणी न नाथ मनावी हो ।। मल्लि० ।।३।।

समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार सूं गाढी ।
मिथ्यामति अपराधण जाणी, घर थी बाहिर काढी हो ।। मल्लि० ।।४।।

हास्य अरति रति शोक दुगंछा, भय पामर करसाली ।
नोकषाय-गज श्रेणी चढतां, श्वान तणी गत झाली हो ।। मल्लि० ।।५।।

राग द्वेष अविरतनी परिणति, ए चरण मोहना जोधा ।
वीतराग परिणति परणमतां, ऊठी नाठा बोधा हो ।। मल्लि० ।।६।।

वेदोदय कामा परिणामा काम्यकर्म सहुत्यागी काम्यक रस हू त्यागी ।
निष्कामी करुणारस सागर, अनन्त चतुष्क पद पागी हो ।। मल्लि० ।।७।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दान विघनवारो सहु जनने, अभयदान पद दाता।
लाभ विघन जग विघननिवारक, परम लाभ रसमाता हो ।। मल्लि० ।।८।।

वीर्य विघन पंडित वीर्ये हणि, पूरण पदवी जोगी।
भोगोपभोग दुय विघन निवारी, पूरण भोग सुभोगी हो ।। मल्लि० ।।९।।

ए अठार दूषण वरजित तनु, मुनिजन वृन्दे गाया।
अविरति रूपक दोष निरूपण, निरदूषण मन भाया हो ।। मल्लि० ।।१०।।

इण विध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावै।
दीनबन्धुनी महर नजर थी, 'आनन्दघन' पद पावै हो ।। मल्लि० ।।११।।

मल्लिनाथ स्तवन के शब्दार्थ—

अवर = अन्य, दूसरे। निवारी = दूर कर दिया। ताणी = खींच कर। जुओ = देखो। रीसाणी = रुष्ट होकर, कुपित हो कर। काण = कानि, मर्यादा। तुरिया = चौथी। गाढी = मजबूत। काढी = निकाल दी। दुगंछा = ग्लानि, घृणा। पामर = नीच। करसाली = तीन दाँतों वाली दन्ताली, पुरुष—स्त्री—नपुंशक वेद, कृषक। श्वान = कुत्ता। झाली = पकड़ी। भाया = अच्छा लगा। परखी = परीक्षा कर।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन

(राग—काफी-आघा आम पधारो पूज्य, ए देशी)

मुनिसुव्रत जिनराज एक मुझ विनती निसुणो ।। टेक ।।

आतम तत क्यूं जाणूं जगतगुरु, एह विचार मुझ कहिये ।
आतम तत जाण्या विण निरमल, चित समाधि नवि लहिये ।। मु० ।।१।।

कोई अबंध आतम तत मानै, किरिया करतो दीसै ।
क्रिया तणो फल कोण भोगवै, इम पूछ्यां चित रीसे ।। मु० ।।२।।

जड़ चेतन ए आतम एकज, थावर जंगम सरिखो ।
सुख दुख संकर दुषण आवै, चित विचार जो परिखो ।। मु० ।।३।।

एक कहै नित्यज आतम तत, आतम दरसण लीनो ।
कृत विनास अकृतागम दूषण, नवि देखै मति हीनो ।। मु० ।।४।।

सुगत मत रागी कहै वादी, क्षणिक ए आतम जाणो ।
बंध मोख सुख दुख नवि घटै, एह विचार मन जाणो ।। मु० ।।५।।

भूत चतुष्क वरजी, आतम तत, सत्ता अलगी न घटै ।
अन्ध सकट जो नजर न देखै, तो स्यूं कीजै सकटै ।। मु० ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इम अनेक वादी मत विभ्रम, संकट पडियो न लहै।
चित समाधि ते माटे पूछूं, तुम बिण तत कोण कहै ।। मु० ।।७।।

बलतूं जगगुरु इण परि भाखै, पक्षपात सहु छंडी।
राग-द्वेष मोहे पख वरजित, आतम सूं रढ मंडी ।। मु० ।।८।।

आतम ध्यान करै जो कोऊ, सो फिर इण में नावै।
वागजाल बीजौ सहु जाणै, एह तत्व चित चावै ।। मु० ।।९।।

जे विवेक धरि ए पख ग्रहियो, ते ततज्ञानी कहियै।
श्री मुनिसुव्रत कृपा करो तो, 'आनन्दघन' पद लहियै ।। मु० ।।१०।।

मुनिसुव्रत जिन स्तवन के शब्दार्थ—

तत = तत्त्व । नवि = नहीं । लहिये = प्राप्त करना । अबंध = बंध रहित, निर्लेप । दीसे = दिखाई देना । रीसे = रुष्ट—नाराज होता है । थावर = स्थावर, स्थिर रहने वाले प्राणी । जंगम = चलने फिरने वाले प्राणी । सरिखो = बराबर, समान । संकर = सांकर्य दोष । परिखो = परीक्षा करो । नित्यज = एकान्त, नित्य । लीनो = निमग्न । मति हीनो = बुद्धिहीन, सुगत = बुद्ध भगवान । भूत = तत्व । चतुष्क = चार तत्व—पृथ्वी, पाणी, अग्नि और वायु । वरजी = रहित । अलगी = अलग पृथक् । सकट = शकट, गाड़ी । ते माटे = इस कारण । वलतूं = वापिसी में, उत्तर में । रढ = प्रीति । वाग जाल = वाणी व्यापार, बकवास । बीजो = दूसरा । सहु = सब । विवेक = परीक्षक बुद्धि ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री नमि जिन स्तवन

(राग—आसावरी-धन धन सम्प्रति सांचो राजा, ए देशी)

षड् दरसण जिन अंग भणीजै, न्यास षडंग जो साधै रे।
नमि जिनवर ना चरण उपासक, षड दरसण आराधै रे ।। षड्० ।।१।।

जिन सुरपादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दुय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करतां, लहो दुग अंग अखेदे रे ।। षड्० ।।२।।

भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दुय कर भारी रे।
लोकालोक अलंबन भजियै, गुरुगम थी अवधारी रे ।। षड्० ।।३।।

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंस विचार जो कीजै रे।
तत्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण किम पीजै रे ।।षड्० ।।४।।

जैन जिणेसर वर उत्तमअंग, अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षर न्यास धरी आराधक, आराधै गुरुसंगे रे ।।षड्० ।।५।।

जिनवरमा सगला दरसण छै, दरसण जिनवर भजनारे।
सागरमां सघली तटनी छै, तटनी सागर भजना रे ।। षड्० ।।६।।

जिन सरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटकावै, ते भृंगी जग जोवे रे। षड्० ।।७।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चूरणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर अनुभव रे।
समय पुरुषनाँ अंग कह्या ए, जे छेदे, ते दुर भवरे ।। षड्० ।।८।।

मुद्रा बीज धारणा अक्षर, न्यास अरथ विनियोगे रे।
जे ध्यावै ते नवि वंचीजै, क्रिया अवंचक भोगे रे ।। षड्० ।।९।।

श्रुत अनुसार विचारी बोलूं, सुगुरु तथा विधि न मिलै रे।
किरियाकरि नविसाधी सकिये, ए विखवाद चित सबलै रे ।। षड्० ।।१०।।

ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर, आगल कहिये रे।
समय चरण सेवा सुधदीज्यो, जिम 'आनन्दघन' लहिये रे ।। षड्० ।।११।।

नमिनाथ जिन स्तवन के शब्दार्थ—

षड् दरसण=छः दर्शन—सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध, चार्वाक और जैन। भणीजे=कहे जाते हैं। न्यास=स्थापना। षडंग=छः अंग—दोनों जंघा, दोनों बाहू, मस्तक, छाती। उपासक=उपासना करने वाले, आराधना करने वाले। सुरपादप=कल्पवृक्ष, पाय=पैर, मूल जड़। वखाणूं=वर्णन करूं। विवरण=विवेचन। दुग=द्विक, दो, युगल, अखेदे=खेद रहित, निःसंकोच। दुय=दो। कर=हाथ। अलंबन=अवलंब, आधार। भजिये=मानियै। अवधारी=धारण करो। लोकायतिक=चार्वाक दर्शन, बृहस्पति प्रणीत नास्तिकमत। कूख=कुक्षि, उदर। उत्तम अंग=मस्तक। सुधारस=अमृतरस। सघला=सब। भजना=कहीं है कहीं नहीं है। तटनी=नदी। भृंगी=भ्रमरी, भँवरी, कीट विशेष। ईलिका=एक प्रकार का कीड़ा, कीट। चटकावै=डंक मारता है। जोवे रे=देखता है। दुरभव=दुर्भव्य, भटकता है, बुरी गति में जाता है। छेदे=भ्रमान्य करे। विखवाद=दुख। सबले=बल सहित, जबरदस्त। ते माटे=इस कारण। ऊभा=खड़ा हूँ। आगल=आगे, सन्मुख।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री नेमि जिन स्तवन

(राग—मारू-धणरा ढोला—ए देशी)

अष्ट भवांतर वालही रे, बाल्हा, तू मुझ आतमराम । मनरा वाल्हा ।
मुगति नारी सूं आपणे रे, वा० सगपण कोइ न काम ॥ मनरा० ॥१॥

घर आवो हो बालम घर आवो, म्हारी आसा रा विसराम । मनरा० ।
रथ फेरो हो साजन रथ फेरो, म्हारा मनना मनोरथ साथ ॥ मनरा० ॥२॥

नारी पखै स्यों नेहलोरे वा०, सांच कहै जगन्नाथ । मनरा० ।
ईसर अरधंगे धरी रे वा०, तू मुझ झाले न हाथ ॥ मनरा० ॥३॥

पशुजननी करुणा करी रे वा०, आणीं हृदय विचार । मनरा० ।
माणसनी करुणा नहीं रे वा०, ए कुण घर आचार ॥ मनरा० ॥४॥

प्रेम कलपतरु छेदियो रे वा०, धरियो जोग धतूर । मनरा० ।
चतुराई रो कुण कहो रे वा०, गुरु मिलियो जग सूर ॥ मनरा० ॥५॥

म्हारो तो एह मां क्यूं नहीं रे वा०, आप विचारो राज । मनरा० ।
राजसभा मां बैसतां रे वा०, किसडी बधसी लाज ॥ मनरा० ॥६॥

प्रेम करै जग जन सहू रे वा०, निरवाहै ते और । मनरा० ।
प्रीत करी नै छाँडि दे रे वा०, तेहूं चाले न जोर ॥ मनरा० ॥७॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जो मनमां एहवो हतो रे वा०, निसपति करत न जाण । मनरा० ।
निसपति करिनै छांडतां रे वा०, माणस हुये नुकसाण ॥ मनरा० ॥८॥

देतां दान संवच्छरी रे वा०, सहु लहै वंछित पोष । मनरा० ।
सेवक वंछित लहै नहीं रे वा०, ते सेवक रो दोष ॥ मनरा ॥९॥

सखी कहै ए सामलो रे वा०, हूं कहूं लखण सेत । मनरा० ।
इण लखणै सांवी सखी रे वा०, आप विचारो हेत ॥ मनरा० ॥१०॥

रागी सूं रागी सहू रे वा०, वैरागी स्यों राग । मनरा० ।
राग बिना किम दाखवो रे वा०, मुगत-सुंदरी माग ॥ मनरा० ॥११॥

एक गुह्य घटतो नहीं रे वा०, सगलो जाणे लोग । मनरा० ।
अनेकांतिक भोगवै रे वा०, ब्रह्मचारी गत रोग ॥ मनरा० ॥१२॥

जिण जोणी तुमनै जोऊं रे वा०, तिण जोणी जोवो राज । मनरा० ।
एक बार मुझनै जोवो रे वा०, तो सीझै मुझ काज ॥ मनरा० ॥१३॥

मोह दसा धरि भावतां रे वा०, चित लहै तत्व विचार । मनरा० ।
वीतरागता आदरी रे वा०, प्रागनाथ निरधार ॥ मनरा० ॥१४॥

सेवक पण ते आदरै रे वा०, तो रहे सेवक माम । मनरा० ।
आसय साथे चालिये रे वा०, एहिज रूड़ो काम ॥ मनरा० ॥१५॥

त्रिविध जोग धर आदरयो रे वा०, नेमिनाथ भरतार । मनरा० ।
धारण पोखण तारणो रे वा०, नवरत मुगता हार ॥ मनरा० ॥१६॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण रूपी प्रभु भज्यो रे वा०, गिण्यो न काज अकाज। मनरा०।
कृपा करी मुझदीजिये रे वा०, 'आनन्दघन' पद राज ।। मनरा० ।।१७।।

श्री नेमि जिनस्तवन के शब्दार्थ—

भवान्तर=अन्य भव, पूर्व जन्म। वालही=प्रिया-वल्लभा। सग-पण=सगाई, संबंध। पखै=बिना। स्यो=कैसा। नेहलो=स्नेह। ईसर=महादेव। अरधंग=आधे अंग में। झालै न=नहीं पकड़ता है। माणस नी=मनुष्य की। कलपतरु=कल्पवृक्ष। छेदियो=काट डाला। चतु-राई रो=चातुर्य का। क्यूं=कुछ भी। बैसतां=बैठते हुए। किसड़ी=कैसी। बधसी=बढ़ेगी। निरवाहै=निर्वाह करते, निभाते। निसपति=निसवत, सगाई, सम्बन्ध। पोख=पोषण। सामलो=सांवला, श्याम। दोख=दोष। लखणै=लक्षण से। सेत=श्वेत, उज्ज्वल। दाखवो=बताना, कहना। माग=मार्ग। गुह्य=गुप्त। सगली=सब। अने कान्तिक=अने कान्त, स्याद्वाद बुद्धि। गतरोग=रोग रहित। जोणी=दृष्टि। सीझै=सिद्ध होवे। माम=धर्म, प्रतिष्ठा। रूड़ो=श्रेष्ठ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२३. श्री पार्श्व जिन स्तवन-१

(राग—सारग देशी—रसियानी)

ध्रुव पद रामी हो स्वामी माहरा, निःकामी गुणराय । सुज्ञानी ।
निज गुण कामी हो पामी तुं धणी, ध्रुव आरामी हो थाय । सु० ॥१॥

सर्व व्यापी कहे सर्व ज्ञाणगपणे, पर परिणमन स्वरूप । सु० ।
पर रूपे करि तत्वपणुं नहीं, स्व सत्ता चिद्रूप ॥ सु० ॥२॥

ज्ञेय अनेके हो ज्ञान अनेकता, जल भाजन रवि जेम । सु० ।
द्रव्य एकत्व पणे गुण एकता, निजपद रमता हो खेम ॥ सु० ॥३॥

पर क्षेत्रे गत ज्ञेय ने जाणवे, पर क्षेत्रे थयुं ज्ञान । सु० ।
अस्ति पणुं क्षेत्रे तुमे कह्यो, निर्मलता गुणमान ॥ सु० ॥४॥

ज्ञेय विनाशे हो ज्ञान विनश्वरु, काल प्रमाणे रे थाय । सु० ।
स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते पर रीते न जाय । सु० ॥५॥

परभावे करि परता पामता, स्व सत्ता थिर ठाण । सु० ।
आत्म चतुष्कमयो परमां नहीं, तो किम सहु नो रे जाण ॥ सु० ॥६॥

अगुरुलघु निज गुण ने देखतां, द्रव्य सकल देखंत । सु० ।
साधारण गुण नी साधर्म्यता, दर्पण जल ने दृष्टान्त ॥ सु० ॥७॥

श्री पारस जिन पारस रस समो, पण इहां पारस नांहि । सु० ।
पूरण रसीओ हो निजगुण परसनो, 'आनंदघन' मुझ मांहि । सु० ॥८॥

पार्श्वनाथ जिन स्तवन (१) के शब्दार्थ—

ध्रुव=अटल । पद=स्थान । रामी=रमण करने वाला । ज्ञाणग पणे=ज्ञातापन में, ज्ञायक भाव से । पर परणमन=अन्य में परिणाम करने वाले । चिद्रूप=ज्ञान रूप । खेम=क्षेम, आनंद । विनश्वरु=नाशमान । आत्मचतुष्कमयी=अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप । समो=समान, बराबर । परसनो=स्पर्श का ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री पार्श्वनाथ जिन स्तवन-२

(राग—शांति जिन एक मुझ वीनती)

पास जिन ताहरा रूप नुं, मुज प्रतिभास किम होय रे।
तुझ मुझ सत्ता एकता, अचल विमल अकल जोय रे॥ पास० ॥१॥

तुझ प्रवचन वचन पक्ष थी, निश्चय भेद न कोय रे।
व्यवहारे लखि देखिए, भेद प्रतिभेद बहु लोय रे॥ पास० ॥२॥

बंधन मोक्ष नहि निश्चये, व्यवहारे भज दोय रे।
अखंड अनादि अविचल कदा, नित्य अबाधित सोय रे॥ पास० ॥३॥

अन्वय हेतु वितरेक थी, आंतरो तुझ मुझ रूप रे।
अंतर मेटवा कारणे, आतम स्वरूप अनूप रे॥ पास० ॥४॥

आतमता परमातमता, शुद्ध नय भेद न एक रे।
अवर आरोपित धर्म छे, तेहना भेद अनेक रे॥ पास० ॥५॥

धरमी धरम थी एकता, तेह मुझ रूप अभेद रे।
एक सत्ता लख एकता, कहे ते मूढमति खेद रे॥ पास० ॥६॥

आतम धर्म ने अनुसरी, रमे जे आतम राम रे।
'आनंदघन' पदवी लहे, परम आतम तस नाम रे॥ पास० ॥७॥

---

२ पास = पार्श्वनाथ भगवान। ताहरा = तुम्हारे। प्रतिभास = प्रकर्ष आभास, साक्षात्कार। अकल = निराकार, अकलनीय। विवहारे = व्यवहारे, व्यवहारनय। लोय = जीवलोक में। मोक्ष = मोक्ष। अबाधित = बाधारहित। वितरक = व्यतिरेक, भेद, अन्तर, व्यतिरेक हेतु। आंतरो = अन्तर। अवर = अन्य, दूसरे। तेहना = उसके। तस = उसका।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री पार्श्व जिन स्तवन-३

(स्वामी सीमंधरा वीनती—ए राग)

प्रणमुं पद पंकज पार्श्व ना, जस वासना अगम अनूप रे।
मोह्यो मन मधुकर जेह थी, पामे निज शुद्ध स्वरूप रे ॥१॥

पंक कलंक शंका नहीं, नहीं खेदादिक दुःख दोष रे।
त्रिविध अवंचक योग थी, लहे अध्यातम सुख पोष रे ॥२॥

दुर्दशा दूरे टले, भजे मुदिता मैत्री भाव रे।
वरतै निज चित्त मध्यस्थता, करुणामय शुद्ध स्वभाव रे ॥३॥

निज स्वभाव स्थिर कर धरे, न करे पुद्गलनी खेंच रे।
साक्षी हुई वरते सदा, न कदा परभाव प्रपंच रे ॥४॥

सहज दशा निश्चय जगे, उत्तम अनुपम रस रंग रे।
राचे नहीं परभाव सुं, निज भाव सुं रंग अभंग रे ॥५॥

निज गुण सब निज में लखे, न चखे परगुण नी रेख रे।
क्षीर नीर विवरो करे, ए अनुभव हंस सुं पेख रे ॥६॥

निर्विकल्प ध्येय अनुभवे, अनुभव अनुभवनी प्रीत रे।
और न कबहुँ लखी शके, 'आनंदघन' प्रीत प्रतीत रे ॥७॥

---

३ पदपंकज,=चरणकमल। जस=जिसकी। वासना=सुगंध। अगम=अगम्य है। अनूप=अनूठी है। मन-मधुकर=मनरूपी भँवरा। पंक=कीचड़। दुरंदशा=बुरीअवस्था; मिथ्यात्व। मुदिता=प्रसन्नता। खंच=खींचातानी। राचे=घुलमिल जाना, मस्त होना विवरो करै=निर्णय करना। पेख=देखना। प्रतीत=विश्वास।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२४. श्री महावीर जिन स्तवन-१

(राग—धन्याश्री)

वीर जिनेश्वर चरणे लागूं, वीर पगूं ते मांगूं रे।
मिथ्या मोह तिमिर भय भाग्यूं, जीत नगारुं वाग्यूं रे ॥ वीर० ॥१॥

छउमत्थ वीर्य लेश्या संगे, अभिसंधिज मति अंगे रे।
सूछम थूल क्रिया ने रंगे, योगी थयो उमंगे रे ॥ वीर० ॥२॥

असंख्य प्रदेशे वीर्य असंख्ये, योग असंखित कंखे रे।
पुद्गल गण तिणे ल्ये सु विशेष, यथाशक्ति मति लेखे रे ॥ वीर० ॥३॥

उत्कृष्टे वीर्य निवेशे, जोग क्रिया नवि पेसे रे।
जोग तणो ध्रुवता ने लेसे, आतम शक्ति न खेसे रे ॥ वीर० ॥४॥

काम वीर्य वशे जिम भोगी; तिम आतम थयो भोगी रे।
शूरपणे आतम उपयोगी, थाइ तेह अयोगी रे ॥ वीर० ॥५॥

वीरपणुं ते आतम ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे।
ध्यान विन्नाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुवपद पहिचाणे रे ॥ वीर० ॥ ६॥

आलंबन साधन जे त्यागे, पर परिणति ने भागे रे।
अक्षय दर्शन ज्ञान विरागे, 'आनंदघन' प्रभु जागे रे ॥ वीर० ॥७॥

महावीर जिन स्तवन के शब्दार्थ—

१ तिमिर = अंधकार। भाग्यूं = भग गया, दूर हो गया। वाग्यूं = बज रहा है। छउमत्थ = छद्मस्थ। अभिसंधिज = आत्म शुद्धि की अभिलाषा, योगाभिजनित, विशेष प्रयत्न से उत्पन्न। सूछम = सूक्ष्म। थूल = स्थूल। कंखे = कांक्षा, अभिलाषा करते हैं। पेसे = प्रवेश करती है। खेसे = स्खलित होती है, डिगती है, खिसकती है। विन्नाणे = विज्ञान। तुमची = आपकी। विरागे = वैराग्य।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री महावीर जिन स्तवन-२

(अभिनंदन जिन दरिसण तरसीए—ए राग)

वीर जिनेसर परमेश्वर जयो, जगजीवन जिन भूप।
अनुभव मित्ते रे चित्ते हित धरी, दाख्युं तास स्वरूप ॥१॥

जेह अगोचर मानस वचन ने, तेह अतींद्रिय रूप।
अनुभव मित्ते रे व्यक्ति शक्ति सुं, भाख्युं तास स्वरूप ॥२॥

नय निक्षेपे रे जेह न जाणिये, नवि जिहां प्रसरे प्रमाण।
शुद्ध स्वरूपे रे ते ब्रह्म दाखवे, केवल अनुभव भाण ॥३॥

अलख अगोचर अनुभव अर्थ नो, कोण कहि जाणे रे भेद।
सहज विशुद्धये रे अनुभव वयण जे, शास्त्र ते सगलां रे खेद ॥४॥

दिशि देखाडी रे शाख सवि रहे; न लहे अगोचर बात।
कारज साधक बाधक रहित जे, अनुभव मित्त विख्यात ॥५॥

अहो चतुराई रे अनुभव मित्तनी, अहो तस प्रीत प्रतीत।
अंतरजामी स्वामी समीप ते, राखी मित्र सुं रीत ॥६॥

अनुभव संगे रे रंगे प्रभु मिल्या, सफल फल्या सवि काज।
निज पद संपद जे ते अनुभवे, 'आनंदघन' महाराज ॥७॥

---

२ दाख्युं = कहा गया है। तास = उसका। जेह = जो। अगोचर = नहीं देखा जा सके। तेह = उनका। व्यकित = व्यक्त किया हुआ, बताया हुआ। भाख्युं = कहा गया। भाण = सूरज। सघला = सभी। समीप = पास, निकट। देखाड़ी = दिखलाई। मित्त = मित्र। फल्यां = फलित हुए। सवि = सब।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री महावीर जिन स्तवन-३

(पंथड़ो निहालूं रे बीजा जिन तणो रे, ए देशी)

चरम जिनेश्वर विगत स्वरूप नूं रे, भावूं केम स्वरूप ?
साकारी विण ध्यान न संभवे रे, ए अविकार अरूप ॥१॥

आप सरूपे आतम मां रमे रे, तेहना धुर वे भेद।
असंख उक्कोसे साकारी पदे रे, निराकारो निर्भेद ॥२॥

सुखम नाम करम निराकार जे रे, तेह भेदे नहिं अंत।
निराकार जे निरगति कर्म थी रे, तेह अभेद अनंत ॥३॥

रूप नहि कइए बंधन घट्युं रे, बंधन मोख न कोय।
बंध मोख विण सादि अनंतनु रे, भंग संग किम होय ? ॥४॥

द्रव्य बिना जिम सत्ता नवि लहे रे, सत्ता विण स्यो रूप।
रूप बिना किम सिद्ध अनंततारे, भावुं अकल स्वरूप ॥५॥

आतमता परिणतिजे परिणम्या रे, ते मुझ भेदाभेद।
तदाकार विण मारा रूपनुं रे, ध्यावुं विधि प्रतिषेध ॥६॥

अंतिम भव ग्रहणे तुझ भावनुं रे, भावस्युं शुद्ध स्वरूप।
तइये 'आनंदघन' पद पामस्युं रे, आतम रूप अनूप ॥७॥

---

३ चरम = अंतिम। विगत = बीता हुआ। साकारी = आकार वाला। अविकार = विकार रहित। धुर = प्रथम। बे = दो। उक्कोसे = उत्कृष्ट। निरभेद = भेद रहित। सूखम = सूक्ष्म। निरगत = निर्गति। स्यों = कैसा। तइयें = तब।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ

श्री सहजानंदघन कृत

चैत्य-वंदन चौवीसी

सं० २००४ चैत्री विक्रम
मोकलसर गुफा

१ ऋषभ जिन चैत्यवंदन

सिद्ध-ऋद्ध प्रगटाववा, प्रणमुं **आदि**-जिर्णद ;
अशुद्ध योगो-त्रय तजी, प्रशस्त-राग अमंद···१

केवल अध्यातम थकी, तप जप किरिया सर्व ;
भवोपाधि भ्रम नवि टले, वधे शुष्कता गर्व···२

कारण-कर्त्तारोप थी, पराभक्ति प्रगटाय ;
दोष टले दृष्टि खुले, सहजानंदघन थाय···३

२ अजित जिन चैत्यवंदन

अजित शत्रु-गण जीतवा, **अजितनाथ** प्रतीत ;
विलोकुं तुझ पथ प्रभो !, यूथ-भृष्ट मृग-रीत···१

अंध परंपर चर्म-दृग्, आगम-तर्क-विचार ;
तजी भाव-योगी भजत, प्रगट बोध निरधार···२

तीर्थङ्करने संत मां, ध्येये भेद न कोय ;
सत्पुरुषार्थे सेवतां, सहजानंदघन होय···३

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

३ संभव जिन चैत्यवंदन

स्व-स्वरूप प्रगटाववा, सेवुं **संभव** देव ;
सतत रोमांचित थिर-मने, सत्पुरुषारथ टेव···१

सदा सुसंताधीन करी, कार्य देह-मन-वाक् ;
सेवन थी सहेजे सधे, भवस्थिति नो परिपाक···२

ध्येये ध्यान एकत्त्वता, बीजी आश निराश ;
असंभव रही संभवे, सहजानंदघन वास···३

४ अभिनंदन जिन चैत्यवंदन

लहुँ केम स्याद्वाद मय, अनेकान्त शिव-शर्म ;
स्वानुभूति कारण परम, **अभिनंदन** तुझ धर्म···१

नय-आगम-मत-हेतु-विख,-वाद थकी नवि गम्य ;
अनुभव संत-हृदय वसे, तास सुवास सुगम्य···२

असंत-निश्रा भ्रान्तिदा, टाली सकल स्वच्छंद ;
संत कृपाए पामिए, सहजानंदघन कंद···३

५ सुमति जिन चैत्यवंदन

आतम अर्पणता करूं, **सुमति** चरण अविकार ;
वामादिक गुरु-अर्पणा, धर्म-मूढता धार···१

इन्द्रिय नोइन्द्रिय थकी, पर-उपयोग प्रसार ;
प्रत्याहारी स्थिर करो, संत-स्वरूप विचार····२

आत्मार्पण सदुपाय छे, सहजानंदघन पक्ष;
सहज-आत्म स्वरूप ए, परम गुरु थी प्रत्यक्ष····३

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

६ पद्मप्रभ जिन चैत्यवंदन

सत्ताए सम ते छतां, तुझ मुझ अंतर केम ;
अहो **पद्मप्रभु** ! कहो, स्हेजे समजुं तेम····१

व्यतिरेक-कारण गही, तूं भूल्यो निज भान ;
अन्वय-कारण सेवतां, प्रगटे सहज निधान···२

अन्वय-हेतु ज्यां प्रगट, ते संताधिन सेव ;
अनहद ज्योति जगमगे, सहजानंदघन देव····३

७ सुपार्श्व जिन चैत्यवंदन

सहज सुखी नी सेवना, अवर सेव दुःख हेत ;
घन - नामी सत्ता अहो ! **सुपारस** संकेत···१

पारस मणिना फरस थी, लोहा कंचन होय ;
पण पारसता नहिं लहे, संत-मणि न सम दोय···२

सुपारस प्रभु सेवथी, सेवक सेव्य समान ;
अनुभव गम्य करी लहो, सहजानंदघन थान···३

८ चंद्रप्रभ जिन चैत्यवंदन

सुण अलि शुद्ध चेतने ! चंद्र-वदन जिन-**चन्द्र** ;
तुं सेवे सर्वांगता, निशि-दिन सौख्य अमंद···१

कालअनादिय मूढ-मति, पर-परिणति-रति लीन ;
संत-प्रभुनी सेवना, न लही सुदृष्टि-हीन···२

सखि ! कृपा करी प्रभु तणा, कराव दर्शन आज ;
योगावंचक करणीए, सहजानंदघन राज···३

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

९ सुविधि जिन चैत्यवंदन

उभय शुचि भावे भजो, पूजत **सुविधि** जिनेश ;
प्रसन्न-चित्त आणा सहित, स्व - स्वरूप प्रवेश···१

अंग-अंग्र अे निमित्त छे, उपादान छे भाव ;
प्रतिपत्ति-पूजा तिहां, प्रगटे शुद्ध स्वभाव···२

शुद्ध स्वभावी संतनी, सेव थकी लहो मर्म ;
स्वरूप सेवन थी लहो, सहजानंदघन धर्म···३

१० शीतल जिन चैत्यवंदन

भासे विरोधाभास पण, अविरोधी गुण-वृन्द ;
शीतल हृदये ध्यावतां, नाशे भव भ्रम फंद···१

स्वरूप रक्षण कारणे कोमल तीक्षण भाव ;
उदासीन पर-द्रव्य थी, रहिए आप स्वभाव ··२

स्वानुभूति अभ्यास ना, अनन्य कारण सन्त ;
सहजानंदघन प्रभु भजो, करो भवोदधि अंत···३

११ श्रेयांस जिन चैत्यवंदन

भाव अध्यातम पथमयी, **श्रेयांस** सेवा धार ;
हठयोगादिक परिहरी, सहज भक्ति-पथ सार····१

देह-आत्म-क्रिया उभय, भिन्न म्यान असि जेम ;
जड़ किरिया अभिमान तज, संवर किरिया प्रेम····२

ज्ञानादि गुण वृन्द पिंड, सोहं अजपा जाप ;
संत कृपा थी पामिए, सहजानंदघन आप····३

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१२ वासुपूज्य जिन चैत्यवंदन

वासुपूज्य-जिन सेवना, ज्ञान-करम फल काज ;
करम करम-फल नाशिनी, सेवो भवोदधि पाज····१

निज पर शुद्धि कारणे, भजिए भेद विज्ञान ;
निज-निज परिणति परिणम्ये, प्रगटे केवलज्ञान···२

स्वरूपाचरणी संत छे, भाव लिंग विश्राम ;
भेद ज्ञान पुरुषार्थ अे, सहजानंदघन ठाम····३

१३ विमल जिन चैत्यवंदन

झगमग ज्योति **विमल** प्रभु, चढी अलोके आज ;
हृदय नयण निरख्या अहो ! भांग्यो विरह समाज···१

दिव्य-ध्वनि अनहद सुणी, अति नाचत मन मोर ;
सुधा-वृष्टि पाने छक्यो, करत पपैयो शोर···२

उछलत सुख सायर तरल, लीन थयो मन-मीन ;
संत-कृपा सहजे सध्यो, सहजानंदघन पीन···३

१४ अनंत जिन चैत्यवंदन

अनंत चारित्र-सेवना, आत्म वीर्य-थिर रूप ;
टके न ज्यां सुरराय के, भेख धारी नटभूप···१

मत-मठधारी लिंगिया, तप जप खप एकान्त ;
गच्छवर जैनाभास पण, पर रंगी चित्त-भ्रान्त···२

टक्या सन्त कोई शूरमा, तास सेव धरी नेह ;
अनेकान्त एकान्त थी, सहजानंदघन रेह···३

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१५ धर्मनाथ जिन चैत्यवंदन

धर्म-मर्म जिन धर्म नो, विशुद्ध द्रव्य स्वभाव ;
स्वानुभूति वण साधना, सकल अशुद्ध विभाव ···१

तप जप संयम खप थकी, कोटि जन्मो जाय ;
ज्ञानांजन अंजित नयन, वण नवि ते परखाय···२

दिव्य नयनघर सन्तनी, कृपा लहे जो कोइ,
तो सहेजे कारज सधे, सहजानंदघन सोई···३

१६ शान्तिनाथ जिन चैत्यवंदन

सेवो **शांति** जिणंद भवि, शान्त-सुधारस धाम ;
अवर रसे आधीन जे, तेथी सरे न काम···१

शान्त भाव वण ना लहे, शुद्ध स्वरूप निवास ;
लवण-महासागर जले, कदी न बूझे प्यास···२

तेथी शांति-स्वरूप नो, सतत करो अभ्यास ;
सहजानंदघन उल्लसे, सन्ताश्रयणे खास···३

१७ कुन्थु जिन चैत्यवंदन

कुन्थु-प्रभु ! मुझने कहो, मन वश करण उपाय ;
जे वण शुभ करणी सही, तुस खंडन सम थाय···१

अजपा जाप आहार दई, सास दोरड़े बांध ;
निश दिन सोवत जागते, एज लक्षने सांध····२

अथवा संताधीन था, अवर न कोई इलाज ;
गुरुगम सेवत पामिये, सहजानंदघन राज···३

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१८ अरनाथ जिन चैत्यवंदन

उभय नय अभ्यासी ने, द्रव्य-दृष्टि धरी लक्ष ;
तदनुकूल पर्यय करी, अर-प्रभु धर्म प्रत्यक्ष···१

भेद-दृष्टि व्यवहारी ने, थइ अभेद निज द्रव्य ;
निर्विकल्प उपयोग थी, परमधर्म लहो भव्य···२

परम धर्म छे ज्यां प्रगट, सद्गुरु संत नी सेव ;
सहजानंदघन पामवा, पुष्टालंबन देव···३

१९ मल्लिनाथ जिन चैत्यवंदन

घाती-घातक मल्लि-जिन, दोष अढार विहीन ;
अवर सदोषी परिहरी, थाओ जिन-गुण लीन···१

जिन-गुण निज-गुण एकता, जिनसेव्ये निज-सेव ;
प्रगट गुणी सेवन थकी, प्रगटे आतम देव···२

दोषी अदोषी परखिए, संताश्रय धरी नेह ;
तो सहेजे निपजाविअे, सहजानंदघन गेह···३

२० मुनिसुव्रत जिन चैत्यवंदन

आतम धर्म जणाय छे, मुनिसुव्रत जिन ध्याइ ;
बीजा मत दर्शन घणा, पण त्यां तत्व न भाइ···१

सत्संगी रंगी थई, धरिये आतम-ध्यान ;
सत्-श्रद्धा लयलीन थई, तो प्रगटे सद्-ज्ञान···२

दृग्-ज्ञाने निज रूप माँ, रमतो आतम राम ;
रत्नत्रयी नी एकता, सहजानंदघन स्वाम···३

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२१ नमिनाथ जिन चैत्यवंदन

कुल धर्मे नास्तिक थई; सत् समझ अनेकान्त ;
चिद्-जड़-सत्ता नियत छे, सांख्य-योग सिद्धांत···१

अथिर-पर्यय द्रव्य-थिर, नियत सुगत-वेदान्त ;
लोक-प्रपंच तजी भजो, अलोक आत्म अभ्रान्त····२

नमि जिनवर उत्तमांग मां, षट् दर्शन पद-द्रव्य ;
गुरुगम थी आस्तिक बने, सहजानंदघन भव्य···३

२२ नेमिनाथ जिन चैत्यवंदन

वीतरागता पामवा, नेमि-चरण सुविचार ;
राग ऋणे-जाने चढ्या, पछी चढ्या गिरनार····१

एक बार रागे बंध्या, छूटे विरला कोय ;
माटे राग न कीजिए, वीतराग वण लोय···२

काम-स्नेह-दृग्-राग-क्षय, भगवद्-भक्ति पसाय ;
सहजानंदघन दम्पति, सति-पति प्रणमुं पाय···३

२३ पार्श्वनाथ जिन चैत्यवंदन

चेतन चेतना फर्सतां, पूर्ण ध्रूव तद्रूप ;
चिद्घन मूर्ति पार्श्व-प्रभु, केवल ज्ञान स्वरूप···१

जगतज्ञान सर्वज्ञता, ते सर्वविधि ज्ञान ;
तदतिक्रान्त केवल दशा, ए परमार्थ विज्ञान···२

ए केवल अर्वलंबने; प्रगटे स्वरूप ज्ञान ;
संत कृपाए विरल ने, सहजानंदघन भान····३

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२४ वीर जिन चैत्यवंदन

आत्म प्रदेश ने स्थिर करे, ते अभिसंधि-वीर्य ;
कषाय वश थी वीर्य ते, अनभिसंधि अस्थैर्य···१

अभिसंधि बल फोरव्ये, वीर पणुं मन-मौन ;
उदय अव्यापकतन-वचन, क्रिया थाय ज्यां गौण····२

साढा बार वरस लगी, वीर पणे विचरंत ;
वंदुं **श्रीमहावीर** ने, **सहजानंदघन** सत····३

कलश

निज अलख गुण लखवा भणी, धरी लक्ष तजी सहु पक्षने ;
गिरिकन्दरा **मोकल** चोमासे, साधवा मन अक्ष ने ;

आनंदघन चौवीसी[१] लक्षे, चैत्यवंदन ए स्तव्या ;
गति-नभ-ख-बंधन (२००४) विक्रमे, शुद्ध सहजानंद पद ठव्या १

१—आनंदघनजी की चौवीसी पर्याप्त प्रसिद्ध और भावपूर्ण रचना है। उसके योग्य चैत्यवन्दनों की कमी अनुभव कर आपने उन्हीं भावों को लेकर यहचैत्यवन्दन चौवीसी सं० २००४ में गुम्फित की है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्त्तमान चतुर्विंशति जिन स्तुतयः

ता० २४-११-६०

ऋषभ जिन स्तुति १

प्रीति अनुष्ठाने प्रेम ऋषभ - पद जोड़ी
प्रभु-छवि चित्त झलक्ये पराभक्ति पथ दोड़ी ;
प्रभु - आज्ञा तत्पर दृष्टि मोह गढ़ तोड़ी,
जीत क्षोभ असंगे सहजानंद रंग रोळी ; ॥१॥

अजित जिन स्तुति २

दिशि पूर्व अजीत-पथ चित्प्रकाश-उद्योत,
दृग - दृश्य विछोड़ी जोड़ी द्रष्टा - पोत ;
जगी अंतः ज्योति त्यां दृष्टि-अंधता-मोत,
लगी ज्ञान निष्ठा ज्यां सहजानंदघन स्रोत ; ॥२॥

संभव जिन स्तुति ३

परिग्रह - मूर्च्छा त्यां भय वली दंभाचार,
संताज्ञा - अवज्ञा सन्मारग तिरस्कार ;
टले अपात्रता ए अनंत कषाय प्रकार,
संभव प्रभु शरणे सहजानंदघन सार ; ॥३॥

अभिनंदन स्तुति ४

थइ संत कृपा ज्यां अभिनंदन श्रुति - घोध,
जागे सुमति त्यां प्रगटे चिद-जड़-बोध ;
ध्येय-ध्यान एकता रूप ध्याति अविरोध,
खुले दृष्टि दर्शन सहजानंदघन शोध ; ॥४॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सुमति जिन स्तुति ५

ज्ञायक-सत्ता हुँ सुमति - प्रभु-पद - बीज,
अर्पित उपयोगे अन्तरात्म - रस - रीझ ;
छूटे जड़ - सत्ता - मोह रीझ नें खीज,
बीज-वृक्ष न्यायवत् सहजानंदघन सीझ ; ॥५॥

पद्मप्रभ जिन स्तुति ६

संग युंजन करणे चित् - प्रकाश - त्रिकर्म,
गुणकरणे शमावी ज्योति-ज्योत स्वधर्म ;
जल-पंकथी न्यारा पद्मप्रभु गत-भर्म,
निज-जिन पद एकज सहजानंदघन मर्म ॥६॥

सुपार्श्व जिन स्तुति ७

नभ-रूप-विविधता ज्यां लगी पर्यय-दृष्टि,
पण द्रव्य दृष्टिए अेक अखंड समष्टि ;
प्रभुता अवलंब्ये प्रगटे निज गुण सृष्टि;
सुपार्श्व शरण थी सहजानंदघन वृष्टि ; ॥७॥

चंद्रप्रभ जिन स्तुति ८

सत्संग - सुपात्रे योग - अवंचक नेक,
स्वरूपानुसंधाने क्रिया अवंचक टेक ;
मोह-क्षोभ विनाशे अवंचक फल एक,
प्रभु-चंद्र प्रकाशे सहजानंद विवेक ; ॥८॥

सुविधिजिन स्तुति ९

जिन-मंदिर-तनमंदिर अनुभव - संकेत,
अनहद अमृतरस ज्योति आदि समवेत ;
अष्ट द्रव्य मिसे अे अनुभव-क्रम अभिप्रेत,
सुविधि - प्रभु पूजत सहजानंदघन लेत ; ॥९॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शीतलजिन स्तुति १०

नय भंग निक्षेपे करीअे तत्त्व विचार,
त्यां अस्ति नास्ति अवक्तव्य आदि प्रकार ;
अविरोध सिद्धि ए स्याद्वाद-चमत्कार,
शीतल सिद्धान्ते सहजानंदघन सार ; ॥१०॥

श्रेयांसजिन स्तुति ११

कर्तृत्वाभिमाने कर्म शुभाशुभ-बंध,
सधे ज्ञप्ति क्रिया थी बोधी-समाधि अबंध ;
कर्त्ता न कदापि चेतन पर जड़ - धंध,
श्रेयांस-बोध ए सहजानंद सुगंध ; ॥११॥

वासुपूज्यजिन स्तुति १२

कर्त्तापद-सिद्धि व्याप्य-व्यापक न्याये,
तत्स्वरूप न जुदा कर्त्ता-कर्म-क्रिया ए ;
परिणति परिणामी परिणाम एक ध्याये,
सहजानंद-रस प्रभु-वासुपूज्य गुण न्हाये····॥१२॥

विमलजिन स्तुति १३

सजीवन मूर्ति करी माथे समर्थ नाथ,
पछी शत्रुदल थी करीए बाथम्बाथ ;
प्रभु विमल कृपा थी विजयलक्ष्मी करी हाथ,
त्यां सहजानंदघन थाय त्रिलोकीनाथ ; ॥१३॥

अनंतजिन स्तुति १४

करी विविध क्रिया ज्यां आश्रवबंध प्रकार,
तोय माने हुं साधु समिति गुप्ति व्रत धार ;
निज लक्ष-प्रतीति-स्थिरता नहिं तिलभार
केम पामे अनंत-प्रभु सहजानंद पद सार····॥१४॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्मजिन स्तुति १५

दृग् - स्नेह - कामवश दूषित प्रेम - प्रवाह,
प्रत्याहारी प्रभु धर्म-पदे शुद्ध राह ;
चित्त कमले ध्यावो प्रभु छबि धरी उत्साह,
खुले परम खजानो सहजानंद अथाह ; ॥१५॥

शान्तिजिन स्तुति १६

परिस्थिति वश जे-जे उठे चित्त-तरंग,
ते भिन्न तुं भिन्न अत: क्षुभित न हो अंतरंग ;
ठरो शान्त रसे तो प्रगटे अनुभव-गंग
प्रभु शांति पसाये सहजानंद अभंग ; ॥१६॥

कुन्थुजिन स्तुति १७

अरर्र ! भ्रम-भ्रम !! छी !!! जड़ मन नों शो दोष ?
चेतन निज भूले करे रोष ने तोष ;
शुद्ध भाव रमे जो मन विलीन निज-कोष,
प्रभु कुंथु कृपा थी सहजानंद रस पोष ; ।१७॥

अरजिन स्तुति १८

सम् अयति-द्रव्य सौ अने चेतन निरधार,
चित्त त्रिविध कर्म स्थित ते परसमय विकार ;
ज्ञायक सत्ता स्थिति चेतन स्व समय सार,
अर धर्म-मर्म अे सहजानंद अविकार ; ॥१८॥

मल्लिजिन स्तुति १९

चिद्-जड़ अभान त्यां सुषुप्त-चेतन अंध,
केवल जड़ भाने स्वप्न सृष्टि सम्बन्ध ;
निज-पर विज्ञाने जाग्रत भेदक संघ,
प्रभु मल्लि उजागर केवल ज्ञानानंद ; ॥१९॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मुनिसुव्रत स्तुति २०

भिन्न-भिन्न मत दर्शन एक एक नयवाद,
निरपेक्ष दृष्टिए वध्यो धर्म-विखवाद ;
टाले मुनिसुव्रत समन्वय स्याद्वाद,
सापेक्ष दृष्टि ए सहजानंद रस स्वाद ; ॥२०॥

नमिनाथजिन स्तुति २१

नमिनाथ प्रभु-पद सांख्य-योग बे ख्यात,
वली बौद्ध वेदान्ती कर स्थाने करे बात ;
निज प्रतीति पूर्व चार्वाक् हृदय-उत्पात,
शिर - जैन प्रतापे सहजानंद सुहात···॥२१॥

नेमिजिन स्तुति २२

रागी रीझे पण केम रीझे वीतराग ?
एकांगी निष्प्रभ विनशे साधक-राग ;
नेमनाथ आलंबी राजुल थाय विराग,
नमुं सहजानंदघन ते दम्पती महाभाग···॥२२॥

पार्श्वजिन स्तुति २३

षड् गुण-हानि वृद्धि प्रति द्रव्य मां थाय,
तोय न्यूनाधिक ना अगुरुलघु गुण स्हाय ;
छे नित्य द्रव्य पण ज्ञेय निष्ठा दुःखदाय,
प्रभु पार्श्व-निष्ठा तोय सहजानंद उपाय ; ॥२३॥

वीरजिन स्तुति २४

दर्शन ज्ञानादिक जे - जे गुण चिद्रूप,
प्रति गुण-प्रवर्त्तना वीर्य स्हायक रूप ;
तजी पर-परिणति सौ गुण शमाव्या स्वरूप,
नमुं सहजानंद प्रभु महावीर जिनभूप···॥२४॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धा शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
xxi	१४	ज्ञानसागरजी	ज्ञानसारजी
xiii	१०	बाते	वाले
xiv	४	धूजोते	धूजते
xv	१६	फो	को
१७	८	हे का दर्शन	हे
१८	२४	प्रप्ति	प्राप्ति
३२	८	होसे से	होने से
४७	२१	प्रर्वक	पूर्वक
५८	१	प्रवार	प्रवाह
६०	७	नजि	निज
७०	१३	अनियमत	अनियमित
८७	८	योगियों	भोगियों
८७	१८	प्रयोजन हेतु	प्रयोजन रूप
९१	१२	बहिर्मुक	बहिर्मुख
९२	१८	अणुव्रत	गुणव्रत
११५	१७	सम्बन्ध से मुक्त हैं	(पंक्ति के प्रारंभ में न रह कर अंत में रहेगी)
११५	२१	प्रतिष्ठा	प्रतिष्ठ
१२५	२६	पक्ति के प्रारंभ में छुटा	सम्बन्धित होते ही
१२७	६	अपार	अफर
११६	१९	प्रयोग	प्रयोग से ही हुआ करता है
१३३	२१	नब	तब
१३६	६	लो	तो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org